

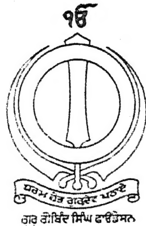
संत-सिपाही

(गुरु गोविन्दसिंह के जीवन पर आधारित)

महाकाव्य

राजकवि

उदयभानु हंस



गुरु गोविन्दसिंह फ़ाउंडेशन, चण्डीगढ़

प्रकाशक
गुरु गोविन्दसिंह फ़ाउंडेशन
चंडीगढ़

●

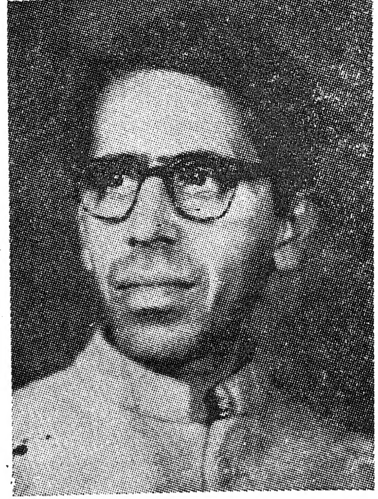
प्रथम संस्करण : १९६७

●

मुद्रक
नवीन प्रेस, दिल्ली-६

मूल्य : आठ रुपये पच्चीस पैसे

क्रम



कवि-संकेत

उदयभानु हंस

जन्म—अगस्त १९२६, दायरा दीन पनाह, ज़िला मुज़फ़्फ़रगढ़ (वर्तमान पश्चिमी पाकिस्तान)।

शिक्षा—प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू-फ़ारसी में। फिर हिन्दी-संस्कृत और अंग्रेज़ी का अध्ययन। सनातन धर्म संस्कृत कालिज मुलतान से प्रभाकर (१९४४) और शास्त्री (१९४५) तथा हंसराज कालिज दिल्ली-विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० (१९५२)।

व्यवसाय—अध्यापन। १९४५ में स० ध० संस्कृत कालिज मुलतान में नियुक्त। देश-विभाजन के पश्चात् सात वर्ष तक दिल्ली में जीवन-संघर्ष और प्राइवेट शिक्षण-कार्य। कुछ समय (१९५२-५३) रामजस कालिज दिल्ली में अस्थायी प्राध्यापक। १९५४ से (अब तक) गवर्नमेंट कालिज हिसार (हरियाणा) में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष।

लेखन—छात्रावस्था (१९४१) में ही संस्कृत कविता का और फिर (१९४३ से) उर्दू व हिंदी कविता का अभ्यास। संस्कृत-साहित्य के लेखक रूप में **१९४२ में 'कविभूषणम्' तथा १९४३ में 'साहित्यालंकारः' की दो उपाधियों से सम्मानित।** कुछ धार्मिक लेख उर्दू पत्रों में प्रकाशित (१९४५-४६)। दिल्ली में १९४८ से प्रभाकर-परीक्षोपयोगी अनेक पुस्तकें (और दो कविता-संग्रह भी) प्रकाशित। हिन्दी-काव्य-जगत् में 'रुबाई' का प्रथम सफल प्रयोग। कवि-सम्मेलनों में धूम। १९५४ से पंजाब और अब हरियाणा के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि और प्रबुद्ध लेखक के रूप में प्रतिष्ठित। **१९६७ में हरियाणा सरकार द्वारा 'राज्य-कवि' मनोनीत।**

प्रकाशित साहित्य—[पद्य में] **हिन्दी रुबाइयां** (१९५०), **धड़कन** (१९५१), **सरगम** (१९६२), **संत-सिपाही** (१९६७)। [गद्य में] **हिन्दी साहित्य के प्रमुख कलाकार** (१९५०), **साहित्य-परिचय** (१९५२), **संक्षिप्त नाटक इतिहास** (१९५२), **निबन्ध रत्नाकर** (१९५३), **हंस हिन्दी व्याकरण** (१९६५), **बिहारी की काव्यकला** (१९६६) आदि।

भूमिका

गुरु गोविन्द सिंह केवल सिक्ख सम्प्रदाय के धर्मगुरु नहीं, वास्तव में भारत के महान् लोकनायक और युगप्रवर्तक महापुरुष थे। उनका व्यक्तित्व असाधारण और बहुमुखी था। वे लोकप्रिय धार्मिक नेता भी थे और प्रगतिशील समाज-सुधारक भी। चतुर राजनीतिज्ञ भी थे और सच्चे देशभक्त भी। कुशल सेनानी भी थे और निर्भीक योद्धा भी। इसी प्रकार वे दार्शनिक विद्वान् भी थे और ओजस्वी कवि भी।

इतिहास के पृष्ठ पलटने से प्रतीत होगा कि मानवसमाज की विविध और जटिल समस्याओं का निदान जानकर उनका समुचित समाधान करने के लिए राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्रों में से किसी एक दो को चुनकर प्रयत्न करने वाले महापुरुष तो समय-समय पर अनेक हुए हैं; परन्तु उक्त सभी क्षेत्रों में सर्वांगीण रूप से जातीय-उत्थान का बीड़ा उठाने वाला क्रान्तिकारी व्यक्तित्व कम-से-कम भारतवर्ष में गुरुगोविन्द सिंह को छोड़ कर अन्य कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अन्यायी शासन-सत्ता से टक्कर लेने के लिए केवल सैन्य-संघटन से सन्तुष्ट न होकर जनसाधारण के आत्मविश्वास और मनोबल को सुदृढ़ बनाने की ओर भी पूरा ध्यान दिया और लोक-क्रान्ति के व्यापक आन्दोलन को लोकमानस में उतारने के उद्देश्य से साहित्य को एक आवश्यक माध्यम चुना। उन्होंने ही देवभाषा के सम्पन्न साहित्य को लोक-भाषा में रूपान्तरित करने की अभूतपूर्व एवं विशाल योजना बनाई। दूसरे शब्दों में भक्ति और शक्ति की गंगा-यमुना में गुरु गोविन्द सिंह ने साहित्य की सरस्वती को भी मिला दिया।

गुरु गोविन्द के सम्मुख समय की अत्यन्त भयानक चुनौती विद्यमान थी। औरंगज़ेब की संकीर्ण मनोवृत्ति, धर्मांधता की क्षुद्र भावना तथा अदूरदर्शिता के कारण भारतीय प्रजा, विशेषतः हिन्दुओं पर निरन्तर अमानुषिक अत्याचार हो रहे थे। मुग़ल साम्राज्य की अतुल सैन्यशक्ति और दमनचक्र की विभीषिका ने साधारणतया हिन्दू राजाओं को निःशक्त बना दिया था। 'कोउ नृप होइ हमें

का हानि' की मन:स्थिति जनता में सर्वत्र व्याप्त थी। जातीय स्वाभिमान लुप्त हो चुका था। जातपात का रोग समाज की शक्ति को घुन की तरह खाता जा रहा था। साधु-महात्मा वातावरण से निर्लिप्त होकर आत्मलीन और वैरागी बने हुए थे। यद्यपि मेवाड़, बुंदेलखण्ड और महाराष्ट्र में कुछ राजनीतिक हलचल और विद्रोह की आग (सीमित क्षेत्र में) अवश्य सुलग रही थी, तथापि सामूहिक रूप से विकार-ग्रस्त मानवजाति का भविष्य पूर्णतया अन्धकारमय दिखाई पड़ता था। ऐसी विषम परिस्थिति में गुरुगोविन्द सिंह ने अकेले ही युग की चुनौती को स्वीकार किया और अपने असीम साहस, दृढ़ संकल्प और आश्चर्यजनक प्रतिभा से समय की प्रबल धारा को मोड़ दिया।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि 'खालसा' के रूपमें गुरुगोविन्द (१६६६-१७०८ ई०) ने जिअ द्भुत महान् क्रान्ति का सफल नेतृत्व किया, उसका बीजारोपण उनसे दो सौ वर्ष पूर्व ही गुरु नानक के काल (१४६९-१५३९ ई०) में हो चुका था। किन्तु क्रान्तदर्शी गुरु नानक ने स्पष्ट देख लिया था कि वह समय 'क्रान्ति' के लिए अनुकूल नहीं। विजयी मुगलसेना से टक्कर लेने के लिए अपेक्षित साहस का दुर्बल जाति में अभी अभाव था। अत: स्थिति की गम्भीरता और परिणाम की भयंकरता का अनुभव करते हुए गुरुनानक ने शान्तिमय साधनों को अपनाया। उन्होंने राजनीति के फेर में न पड़कर धर्मप्रचार और समाजसुधार द्वारा निराश हृदयों को 'आशा' की रागिनी सुनाई। 'संगत' (सह-चिन्तन) तथा 'पंगत' (सह-भोजन) की अनुपम रीति सिखाकर जनसाधारण को एकता का असाधारण गुरुमन्त्र प्रदान किया।

भक्ति-आन्दोलन के रूप में जन-जागरण का यह निराला प्रयोग लगभग एक सौ वर्ष तक शान्ति से चलता रहा। परन्तु १६०६ ई० में मुगल-सम्राट जहाँगीर की अविवेकपूर्ण आज्ञा से जब पंचमगुरु अर्जुन देव लाहौर में शहीद हुए, तो परिस्थिति से विवश होकर उनके सुपुत्र छठे गुरु हरगोविन्द (१५९५-१६६४ ई०) को 'मीरी' और 'पीरी' की दो तलवारें बाँधनी पड़ीं। अन्याय-अधर्म का प्रत्याख्यान करने के लिए उन्होंने सिक्खों की सेना संघटित करने का ऐतिहासिक निर्णय लिया। फलस्वरूप मुगल-शासन से कुछ देर सशस्त्र संघर्ष भी चला, परन्तु शीघ्र ही वातावरण में शान्ति स्थापित हो गई।

११नवम्बर १६७५ई० के दिन इतिहास की पुनरावृत्ति हुई, जब औरंगज़ेब की

1. "Govind saw what was yet vital and he relumed it with Promethean Fire."
(*History of the Sikhs, by Cunningham*)

असहिष्णु नीति के कारण नवमगुरु तेगबहादुर का सिर (दिल्ली के चाँदनी चौक में) धड़ से अलग कर दिया गया। इस लोमहर्षक घटना का सारे भारत में युगांतरकारी प्रभाव पड़ा। सिक्खों में विशेष रूप से रोष और आक्रोश की लहर दौड़ गई। बाल गोविन्द ने पिता के मूक आत्मबलिदान की विफलता देखकर सशस्त्र 'क्रान्ति' की आवश्यकता अनुभव की। उन्हें अपने दादा हरगोविन्द से प्रेरणा मिली। नवयुग का अरुणोदय हुआ, जिसके परिणामस्वरूप ३० मार्च १६९९ ई० में वैशाखी के पुण्य अवसर पर (आनन्द पुर में) 'खालसा' की स्थापना हुई। दो सौ वर्षों तक निरन्तर भगीरथ प्रयत्न करने के पश्चात् क्रान्ति की गंगा को शिरोधार्य करने का अवसर अन्त में आ ही गया। गुरुगोविन्द सिंह ने भगवान् शंकर के समान युग का सारा विष स्वयं पीकर संसार को नवजीवन और नवशक्ति का नवीन 'अमृत' प्रदान किया।

श्री गोकुल चन्द नारंग के मतानुसार भी 'गुरुगोविन्द और उनका कार्यकलाप उस प्रक्रिया का ही स्वाभाविक परिणाम था, जो सिक्ख धर्म की स्थापना के समय से ही आरम्भ हुई थी। गुरु गोविन्दसिंह के जीवनकाल में जो फ़सल पककर तैयार हुई, उसका बीज-वपन गुरुनानक ने ही कर दिया था और जिसे उनके उत्तराधिकारियों ने ही सींचा था। निःसन्देह 'खालसा' को गौरव के शिखर तक पहुँचाने वाली तलवार तो गुरु गोविन्दसिंह की थी, परन्तु उसके लिए इस्पात गुरु नानक ने ही तैयार किया था'।[1]

वास्तव में गुरु गोविन्द सिंह के उदात्त जीवन-दर्शन, विलक्षण व्यक्तित्व और सम्पूर्ण कृतित्व को सूचित करने के लिए यदि कोई एक सार्थक विशेषण चुना जा सकता है तो वह है—'सन्त-सिपाही'। मूलतः गुरु गोविन्दसिंह 'सन्त' ही थे, परन्तु परिस्थितियों ने उन्हें 'सिपाही' बनने पर विवश कर दिया था। अपनी इसी विवशता का उल्लेख उन्होंने १७०५ ई० में औरंगज़ेब को फ़ारसी भाषा में लिखे अपने पद्यबद्ध ऐतिहासिक पत्र 'ज़फ़र नामा' में भी किया है।

---

1. 'Govind himself, in fact, as well as his work, was the natural product of evolution that had been going on ever since the foundation of Sikhism. The harvest which ripened in the time of Guru Gobind Singh, had been sown by Nanak and watered by his successors. The sword which carved the Khalsa's way to glory was, undoubtedly, forged by Govind, but the steel had been provided by Nanak.

(*The Transformation of Sikhis m*

दक्षिण में संघर्ष व्यस्त मुगलसम्राट् को उसके विश्वासघाती सूबेदारों की काली करतूतों का भण्डाफोड़ करते हुए दशमगुरु अपनी स्थिति स्पष्ट कर देते हैं—

ब-लाचारगी दरमियां आमदम ।
ब-तदबीर तीरो-कमां आमदम ॥२१॥
चूँ कार अज़ हमा हीलते दरगुज़श्त ।
हलाल अस्त बुर्दन ब-शमशीर दस्त ॥२२॥

अर्थात् 'युद्धक्षेत्र में मुझे लाचार होकर ही आना पड़ा है । मैं आक्रमणकारियों के विरुद्ध (आत्मरक्षा के लिए) शस्त्रों का प्रयोग करने को बाध्य हो गया हूँ । क्योंकि जब सभी अन्य (शान्तिमय) उपाय समाप्त हो जाएँ, तब हाथ में तलवार उठा लेना न्याय-संगत ही है ।'

इतिहास साक्षी है कि गुरुगोविन्दसिंह ने युद्ध छेड़ने में कभी पहल नहीं की । 'भंगाणी' के प्रथम युद्ध को ही लीजिए । नाहन-नरेश मेदिनीप्रकाश के निमन्त्रण पर नवयुवक गुरु गोविन्द 'पांवटा' के शान्त पर्वतीय वातावरण में विपद्ग्रस्त जाति के उद्धार के लिए एकान्त चिन्तन और मनन में लीन थे । यमुना के किनारे बावन प्रमुख कवियों के सहयोग से साहित्य-साधना हो रही थी । गुरु-गद्दी के पुराने दावेदार 'रामराय' से मधुर सम्बन्ध स्थापित हो गया था । गढ़वाली राजा फतहशाह के साथ नाहन राज्य का सीमा-विवाद भी गुरु की कुशल मध्यस्थता द्वारा हल हो चुका था । किन्तु हा दुर्दैव ! गुरु पर 'अकारण' चढ़ाई करने वाला भी कोई और नहीं, वही कृतघ्न राजा फतहशाह ही था[1], जिसने अपने समधी कहलूर (विलासपुर राज्य) के राजा भीमचन्द के व्यक्तिगत गुरुद्वेष से प्रतारित होकर ऐसा नीचतापूर्ण कुकृत्य किया था ।

'बिना काज' युद्ध छेड़ने वाले इन पर्वतीय राजाओं ने गुरु को कभी चैन से नहीं बैठने दिया । भारत माता को परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ने वाले अत्याचारी मुगलों के विरुद्ध तो इन कायरों की तलवारें कभी नहीं उठ सकीं, परन्तु हिन्दूधर्म और भारतीय संस्कृति के गौरव की रक्षा करने वाले निष्काम और निर्वैर धर्मगुरु को अपदस्थ करने के लिए वे झट कटिबद्ध हो गए । क्योंकि स्वार्थ ने उन्हें अन्धा कर दिया था । देशभक्ति, स्वातन्त्र्य-प्रेम और जातिहित की कल्पना उनसे कोसों दूर थी । जर्जर धार्मिक रूढ़ियाँ उनका कवच बनी हुई थीं, अतः जात-पात के बन्धनों पर गुरु-प्रहार उनके लिए असह्य था । दशम गुरु की लोकतन्त्री जीवन-पद्धति में भी उन्हें अपने सामन्तवाद का

---

१. फतहशाह कोपा तब राजा ।
लोह परा हम सों बिन काजा ॥ (विचित्र नाटक)

अन्त दिखाई दे रहा था। कदाचित् यही उनके वैमनस्य का विशेष कारण भी था।

किन्तु गुरु गोविन्द के सामने प्रश्न था—सिद्धान्त और आदर्श का, जिसकी रक्षा के लिए आजीवन उन्होंने संघर्ष किया। घर छोड़ा, परिवार छोड़ा। भूखे-प्यासे, थके-हारे कंटकाकीर्ण पथ पर चलना स्वीकार किया, पर हार नहीं मानी। धर्म की बलिवेदी पर अपने पिता और माता ही नहीं, अपने चारों पुत्रों एवं अन्त में अपने प्राणों तक की भी पूर्णाहुति दे दी। क्योंकि उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था—

धर्म चलावन सन्त उबारन।
दुष्ट सबन का मूल उपारन।। (वि० ना०)

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए गुरु गोविन्द ने 'सन्त-सिपाही' का व्रत लिया था। वास्तव में युगस्थिति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के पश्चात् गुरु गोविन्द को विश्वास हो गया था कि अब समय आ गया है, जब ईंट का जवाब पत्थर से देना पड़ेगा। अब निरीह मूक बलिदानों से नहीं, अपितु मृत्युंजयी नरसिंहों की कृपाणों से ही धर्म की रक्षा, सन्तों का उद्धार और दुष्टों का संहार हो सकेगा। धर्म युद्ध के लिए भक्ति के उपासकों को अब शक्ति की पूजा भी करनी होगी। तभी तो गुरु गोविन्द ने खड्ग को नमस्कार किया[1] और 'धर्मयुद्ध' में जूझ मरने का वर माँगा—

देहु शिवा, वर मोंहि इहै शुभ कर्मन तौं कबहूँ न टरौं।
न डरौं अरि सों जब जाइ लरौं, निस्चै करि अपनी जीत करौं।।
अरु सिक्ख हौं आपने ही मन कौं, इह लालच हउ गुन तौ उचरौं।
जब आवु की अवधि निदान बनै अति ही रण मैं तब जूझ मरौं।।

गुरु गोविन्द ने समय की माँग के अनुसार 'खालसा' के रूप में जाति का पुनर्गठन कर दलितवर्ग के स्वाभिमान को जगाया और अपने चमत्कारी व्यक्तित्व [के प्रभाव से चिर-शोषित और चिर-उपेक्षित जन-साधारण को राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन का दुर्जेय योद्धा बनाकर दिखला दिया।[2] चमकौर और मुक्तसर की लड़ाइयों में प्रशिक्षित असंख्य शत्रु सेना के सम्मुख मुट्ठी-भर

---

१. नमस्कार श्री खडग को करौं सुहित चित लाय। (वि० ना०)

2. 'Prior to the time of Sikh Gurus no General ever concieved the idea of raising an army from men, who were believed to be unclean and poluted from their birth.'

(Metcalfe)

बलिदानी सिक्खों का डट जाना विश्व के युद्ध-इतिहास का अभूतपूर्व घटना कही जा सकती है। निराशा और भय के शब्द तो कलगीधर कोष में थे ही नहीं। उनके लिए आदर्श थी गुरु तेगबहादुर की शिक्षा—

'भय काहू को देत नहि, नहि भय मानत आन'

'धर्म-युद्ध' में भाग लेते हुए भी गुरु गोविन्दसिंह स्वभाव से शान्तिप्रिय ही थे। उनका चरमलक्ष्य युद्ध नहीं, युद्ध का अन्त था।[1] अनावश्यक रक्तपात से उन्हें सदैव घृणा थी। उदाहरणार्थ 'भंगाणी' के युद्ध में विजय प्राप्त करके यदि वे चाहते तो सिक्ख सैनिकों की इच्छानुसार वे पराजित राजा फतहशाह की राजधानी पर सहज अधिकार प्राप्त कर सकते थे; किन्तु राज्यलिप्सा-विहीन गुरु ने ऐसा नहीं किया। उनका सन्त-हृदय स्वार्थी और कुटिल कूटनीतिज्ञों के दांव-पेंचों से अनभिज्ञ था। यही कारण है कि दशमगुरु पुराना वैर-विरोध भुलाकर संकट पड़ने पर अपने कट्टर शत्रुओं और घोर विरोधियों की सहायता करने को भी तत्पर हो जाते थे। राजा भीमचन्द का सतत गुरुद्वेष सर्वविदित था। अपने प्रदेश में गुरु का आवास (आनन्दपुर) उसकी आँखों में सदैव खटकता रहता था। 'भंगाणी' का युद्ध भी उसी के गुप्त षड्यन्त्र का परिणाम था। किन्तु यह सब जानते हुए भी कुछ समय पश्चात् जब राजा भीमचन्द पर अलिफ खाँ की शाही सेना का आक्रमण हुआ और निर्लज्ज राजा ने सहायता का अनुरोध किया, तो कृपालु गुरु गोविन्द ने 'नादौन' के युद्ध में स्वयं भाग लेकर अपने चिरशत्रु को बचा लिया। परन्तु हाय री, कायरता और स्वार्थ की हीन भावना! ज्यों ही गुरु अपने दल के साथ वापिस लौटे, राजा भीमचन्द आदि भीरु नृपतियों ने भावी आक्रमण के भय से मुगल सेनापति के साथ चुपके से सन्धि कर ली।[2]

कितना विचित्र व्यवहार! कैसी कुटिल चाल! परंतु सरल सौम्य गुरु गोविन्द की नीति और मर्यादा में कोई अन्तर न आया। पुनः मुग़ल-सम्राट् औरंगज़ेब की मृत्यु (१७०४ ई०) पर जब उसके ज्येष्ठ पुत्र मुअज़्ज़म (बहादुरशाह) ने राजगद्दी पर अधिकार करने के लिए गुरुजी से सहायता माँगी और अपनी सद्भावना का आश्वासन दिया तो उन्होंने मुगलसाम्राज्य के साथ अपने चिरंतन संघर्षों को भुलाकर उसे तुरंत सैनिक सहायता प्रदान की। ऐसे अवसर पर कोई भी चतुर राजनीतिज्ञ स्थिति का अनुचित लाभ उठा सकता था।

---

१. 'पंथ चलावैं जगत मैं युद्ध करहिं सब शान्त'

२. इत हम होइ विदा घर आये।
सुलह निमित ते उतहिं सिधाये॥ (वि० ना०)

परंतु 'संत-सिपाही' के अपने कुछ आदर्श थे। उनका विरोध व्यक्तियों से नहीं, केवल उनकी अन्यायपूर्ण नीतियों से था, भले ही वे मुसलमान सूबेदारों की हों या हिंदू पहाड़ी राजाओं की। अन्यथा उनकी दृष्टि में सारी मनुष्य जाति एक समान थी।[१] सबसे प्रेम करना ही उनके लिए प्रभु की प्राप्ति का साधन था।[२] उनका विश्वास था—

देहरा मसीत सोई, पूजा औ नमाज ओई
मानस सबै एक पै अनेक को भ्रमाओ है।
अल्लाह अभेख सोई, पुरान औ कुरान ओई
एक ही स्वरूप सबै एक ही बनाओ है॥

कहते हैं, उनका एक सेवक 'कन्हैया' युद्धक्षेत्र में हिंदू-मुसलमान सभी घायल सैनिकों की सेवा किया करता और उन्हें पानी पिलाया करता था। अनेक प्रतिष्ठित मुसलमान भी गुरु के अनन्य भक्त बन गए थे, जिनमें पीर बुधुशाह के अतिरिक्त नबी खान और ग़नी खान दो पठान भाइयों के नाम भी उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने चमकौर-गढ़ी से निकलने पर पीछा करती हुई मुगल-सेना से गुरुजी को बचाकर बड़ी चतुरता से उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया था। अतः गुरुगोविन्दसिंह को मुस्लिम-विरोधी समझना अपने अज्ञान का ही परिचय देना है।

गुरुगोविन्दसिंह पीड़ित मानवता के महान् मुक्तिदाता थे। सामाजिक न्याय, मानवी समानता तथा लोकतंत्री जीवन-पद्धति में उनकी अटूट आस्था थी। अपने पिता के मस्तक को उठाकर लाने वाले एक निम्न वर्ण के साहसी व्यक्ति को 'रंगरेटे गुरु के बेटे' कहकर गले लगाना तथा 'खालसा' की स्थापना के अवसर पर 'पांच प्यारों' को पहले स्वयं दीक्षा देकर फिर उन्हीं के हाथों से स्वयं 'अमृतपान' करना और गुरुशिष्य की समानता का अद्वितीय आदर्श उपस्थित करना[३] उनके विराट् व्यक्तित्व का ही परिचायक है। गुरु गोविन्द को 'व्यक्तिपूजा' से भी घृणा थी। वे उन्हें परमेश्वर मानकर पूजा करने वालों के अत्यंत विरोधी थे।[४] गुरु-गद्दी के लोलुप व्यक्तियों के नीचता-

१. मानस की जात सबै एक ही पहिचानवो (अकाल स्तुति)
२. साच कहूं सुनि लेहु सबै
जिन प्रेम कियो तिन ही प्रभु पायो (वही)
३. वह प्रगट्यो मर्द अगम्मड़ा वरियाम अकेला।
वाहु वाहु गोविन्दसिंह आपे गुरु चेला॥ (गुरु विलास)
४. जो हम को परमेश्वर उचरि हैं।
ते सब नरक कुंड में परि हैं॥ (वि० ना०)

पूर्ण व्यवहार से भी वे खिन्न हो चुके थे, तभी तो उन्होंने गुरुपरंपरा का ही अंत करने का विवेकपूर्ण निश्चय किया था और 'आदिग्रंथ' को ही, 'गुरु' पदवी देकर 'गुरुमत' के निर्णयानुसार जाति को अनुशासन में रहने का आदेश दिया था ।[१]

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि भले ही समय ने गुरुगोविन्दसिंह को 'सिपाही' बना दिया था, परंतु प्रकृति से वे 'संत' ही थे । 'पांवटा' हो या 'आनंदपुर,' 'दमदमा' हो या 'नान्देड़', उनका नित्यकर्म (हरिस्मरण) अबाध गति से चलता रहा । कदाचित् गुरुगोविन्द को पाँच हजार वर्ष पहले के गोविन्द का कथन याद था—'मामनुस्मर युद्ध्य च' अर्थात् 'हे अर्जुन तू मेरा स्मरण कर और युद्ध में भाग ले ।' यही वाक्य 'खालसा' का भी गुरुमंत्र बन गया—

धन्न जियो तिह को जग में
मुख ते हरि चित्त में युद्ध विचारे ।। (कृष्णावतार)

ऐसा प्रतीत होता है कि गुरुगोविन्दसिंह ने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में जो अद्भुत उपलब्धियां प्राप्त की हैं, उनका पूर्ण तथा उचित मूल्यांकन अभी नहीं हो पाया । यही कारण है कि इस विश्वविभूति को प्रायः एक समुदायविशेष का धर्मगुरु मानकर संतोष कर लिया गया है । मैंने गुरुगोविन्दसिंह के महाकाव्योचित बहुमुखी व्यक्तित्व के रूप में मानवसमाज के कुछ महत्त्वपूर्ण और चिरंतन प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयत्न किया है । मेरा लक्ष्य इतिहास लिखना नहीं, इतिहास के माध्यम से एक ऐसे आदर्श काव्यपुरुष का सृजन करना है, जिसके चरित्र में 'सत्यं-शिवं-सुंदरं' का समन्वय हो । 'संत-सिपाही' की रचना करते समय मेरी दृष्टि केवल अतीत पर नहीं, वर्तमान और भविष्य पर भी रही है । कला को केवल कलाकार की आत्माभिव्यक्ति न मानकर मैं उसे सामाजिक जीवन के संस्कार का भी एक प्रभावशाली साधन मानता हूँ ।

संस्कृत और हिन्दी के प्रतिष्ठित महाकाव्यों की परंपरा ही नहीं, आधुनिक साहित्य के मानदण्ड भी मेरे सम्मुख रहे हैं । ऐतिहासिक प्रबंधकाव्य होने के कारण मैंने कविकल्पना का सहारा लेते हुए भी देशकाल तथा घटना-क्रम की प्रामाणिकता का पूरा ध्यान रखा है । परंपरा और इतिहास के विवाद में

१. आज्ञा भई अकाल की तभी चलायो पंथ ।
सब सिक्खन को हुक्म है गुरु मानियो ग्रंथ ।।
गुरु ग्रंथ जी मानियो प्रगट गुरां की देह ।
जो प्रभु को मिलिबो चहै खोज सबद में लेह ।।

मेरा दृष्टिकोण सदैव समन्वयवादी रहा है। वस्तुवर्णन को यथार्थरूप देने के लिए मैंने मूल गुरुवाणी का भी यथास्थान पर्याप्त आश्रय लिया है। भंगानी-युद्ध का प्रायः सारा विवरण दशमगुरु की अपूर्ण आत्मकथा 'विचित्र नाटक' पर ही आधारित है। 'ज़फ़रनामा' के मूल पाठ से भी यथेष्ट लाभ उठाया है और युद्ध-वर्णन में तो कहीं कहीं 'विचित्र नाटक' तथा 'चण्डी-चरित्र' आदि रचनाओं की अनेक सुन्दर उपमाएँ भी प्रयुक्त कर ली हैं। इसी प्रकार ईश्वर-स्तुति में प्रायः मूल 'वाणी' के पर्यायवाची शब्दों का ही व्यवहार किया गया है।

गुरु गोविन्द सिंह के विचित्र नाटकीय जीवन को मैंने चरितकाव्य की शैली में प्रस्तुत किया है और इस बात का ध्यान रखा है कि प्रत्येक सर्ग कथा-प्रवाह का अभिन्न अंग होते हुए भी स्वतःपूर्ण रहे। घटनाओं की बहुलता और जटिलता में चयन के अतिरिक्त मेरे सम्मुख अनेक बार गुरुगोविन्द के चरित-लेखकों के मतभेद की भी गम्भीर समस्या विद्यमान थी। इस विषय में शोध करते समय कई आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट हुए। उदाहरणार्थ समकालीन गुरुभक्त कवि सेनापति ने ('गुरु शोभा' में) 'खालसा' की स्थापना के अवसर पर 'पाँच प्यारों' की प्रसिद्ध परम्परागत घटना का कहीं वर्णन ही नहीं किया। फिर 'गुरुप्रताप सूर्य' जैसे महत्त्वपूर्ण गौरवग्रन्थ के लेखक महाकवि संतोखसिंह तथा सेनापति दोनों ने ही चमकौर-युद्ध में शहीद गुरुपुत्रों के नाम अजीतसिंह व ज़ोरावर सिंह दिए हैं तथा सरहिन्द में बलिदान होने वालों के नाम जुझारसिंह व फ़तहसिंह लिखे हैं,[1] जो सिक्ख-इतिहास और परम्परा में मान्य नहीं हैं।

इसी प्रकार भाई संतोखसिंह द्वारा गुरुहत्या का प्रसंग भी—जिसमें दशमेशगुरु गुलखान पठान (डॉ० गण्डासिंह के अनुसार जमशेद ख़ान) के हाथ में तलवार देकर उसे घातक वार करने को स्वयं प्रोत्साहित करते हैं[2]—सर्वथा अस्वाभाविक लगता है। इस विषय में 'गुरुशोभा' में दिए गए तर्कसंगत और बहुस्वीकृत विवरण को ही मैंने ग्रहण किया है।

घायल होने के कारण गुरुगोविन्दसिंह का स्वयं पंजाब न जाकर अपने अधूरे कार्य को पूरा करने के निमित्त बन्दा बैरागी को भेजने सम्बन्धी डा०

---

१. (क) अधम तबै तलवार चलाई। सिर जुझार सिंह दयो गिराई।
बहुर दूसरो बार प्रहारा। फतहसिंह को सीस उतारा॥ (गु० प्र० सू०)
(ख) फतेसिंह जुझारसिंह इह विधि तजे परान (गुरुशोभा)

२. कर के नगन दई तिस हाथ।
पुन प्रेरन लागे कह नाथ॥ (गुरु प्रताप सूर्य)

गण्डासिंह का मत भी[1] मुझे अधिक युक्तियुक्त प्रतीत हुआ है। परन्तु 'गुरु प्रताप सूर्य' में बन्दा बहादुर द्वारा सरहिन्द-विजय के पश्चात् सूबेदार वज़ीरखान की हत्या का समाचार गुरुजी को सुनाने का प्रसंग इतिहास द्वारा प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि सरहिन्द-विजय का समय सभी इतिहास-लेखक गुरु गोविन्द सिंह के देहान्त से दो वर्ष पश्चात् १७१० ई० ही मानते हैं। गुरुजी के प्राचीन तथा अनेक आधुनिक जीवनी-लेखकों की (केवल ३०० वर्ष पूर्व) इतिहास के प्रति उदासीनता तथा गवेषणात्मक रुचि का अभाव बहुत खटकता है। इस दिशा में भाई वीर सिंह जैसे कुछ शोधकर्ताओं की वैज्ञानिक दृष्टि और खोज निश्चय ही प्रशंसनीय है, जो मेरे लिए भी सर्वथा सहायक सिद्ध हुई है।

'संत-सिपाही' की रचना नितान्त आकस्मिक और सम्भवतः चिर-संचित मेरी अन्तःप्रेरणा का ही सहज परिणाम है। इतिहास के मन्दिर में कविता का दीप जलाकर मैंने जिस 'आदर्श जीवन' का दर्शन किया है, वह अतीत की पुण्य धरोहर ही नहीं, वर्तमान की उज्ज्वल आशा एवं भविष्य का सुन्दर स्वप्न भी है। इसलिए मूलतः 'स्वान्तःसुखाय' होते हुए भी मेरी कृति 'लोक-हिताय' सिद्ध हो, यही मेरी कामना है।

१८ जनवरी, १९६७
गुरु गोविन्दसिंह जन्म त्रिशताब्दी

'हंस'

1. 'It will not be out of place to mention here that, but for his physical disability, due to assasin's blow, Guru Gobind Singh would most probably have returned to the Punjab.

(*Banda Singh Bahadur*)

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुम्यमेव समर्पये'

प्रथम सर्ग

पुत्र को सौंपा पिता ने राष्ट्र का निर्माण।
चुन लिया सद्धर्म-रक्षा-हित स्वयं बलिदान ॥

आह्वान

सुप्रभाती गा रहा था मन्द-मन्द समीर।
उषा अम्बर में उड़ाती थी अमन्द अबीर॥
शस्य-श्यामल थी धरा, वर्षा-धुला आकाश।
कस रहा था प्रकृति को सौन्दर्य का भुजपाश॥

मुस्कराती थी सुनहरी शारदीया धूप।
माँग भरकर खिल उठे ज्यों नववधू का रूप॥
गिरि-शिखिर कंचन-किरीट पहन रहे अभिराम।
'चरण गंगा' कर रही थी पुलिन में विश्राम॥

रेशमी नीलाभ सतलुज का सुवर्ण दुकूल।
यत्र तत्र बिखेरता था इन्द्रधनुषी फूल॥
स्फटिक-दर्पण से सरोवर अमृतमय अवदात।
पद्मराग-समान बिखरे थे अरुण जलजात॥

कलरवों ने नयन खोले, फड़फड़ाए पंख।
शून्य मण्डल में लगे बजने सुरीले शंख॥
मुखर मधुकर कोकिलों का षड्ज-पंचम भाव।
बढ़ रहा था तितलियों में नाचने का चाव॥

विविध कुसुमों के रुचिर कंकण करों में डाल।
थीं लताएँ झूमतीं, तरु दे रहे थे ताल॥
किन्तु गहरी सोच में डूबा हुआ दिवसेश।
ग्रह-दशा संसार की था देखता अनिमेष॥

सर्वथा गुरु-ग्राम का वातावरण था शान्त।
मंगल-ध्वनि से निनादित था सकल वनप्रान्त॥
हो रहा था नाम-संकीर्तन 'सबद' का गान।
स्त्री-पुरुष सब कर रहे थे भक्तिरस का पान॥

नवम-नानक का लगा था लोकप्रिय दरबार।
हो रहा था 'पंथ' पर गम्भीर सोच-विचार॥

शिष्य गुरु के थे सभी निर्भीक निष्ठावान।
स्नेह के सन्देशवाहक, वीर वज्रसमान॥
भव्य आसन पर सुशोभित दिव्य गुरु की मूर्ति।
दे रही थी दर्शकों को शक्ति-शान्ति-स्फूर्ति॥

निकट गुरु के था विराजित बाल गोविन्द राय।
हो नए इतिहास का जैसे प्रथम अध्याय॥

वह निराले ढंग से था मंच पर आसीन।
मानसिक हर हीनता की भावना से हीन॥
केन्द्र था हर नेत्र का उसका विलक्षण रूप।
बुद्धि, बल, व्यक्तित्व में था सब प्रकार अनूप॥

हिम-धवल उष्णीष से मंडित हुआ था भाल।
कण्ठ में मणिमाल, कटि में लटकती करवाल॥
मंजु मुखमण्डल, मधुर मुद्रा, मृदुल मुस्कान।
था सितारों बीच ध्रुव नक्षत्र सा द्युतिमान॥

ज्ञान में था वृद्ध चाहे थी अवस्था बाल।
एक चिनगी में समाई थी असीमित ज्वाल ।।
मुग्ध मानस में तुमुल तूफ़ान था यूँ बन्द।
ज्यों मधुर शब्दावली में वीररस का छन्द ।।

प्रौढ़-बालक, पंथ-सेवा का जिसे अनुराग।
धर्म-चर्चा में सुरुचि से ले रहा था भाग ।।
सुन रहा था 'साध-संगत' के विभिन्न विचार।
लीन था वह खोजने में रोग का उपचार ।।

स्पष्ट समकालीन स्थिति समझा रहे थे तात।
मुगल-शासन के गिनाकर अनगिनत उत्पात ।।

"आज फैली है विषैली सांप्रदायिक आग।
डस रहा है देश को धर्मान्धता का नाग ।।
लोकमानस में चुभा है दासता का तीर।
जाति की चिन्ताजनक स्थिति हो रही गंभीर ।।

चल रही है धर्म पर अन्याय की तलवार।
हो रहा हरिभक्तजन पर नित्य अत्याचार ।।
सप्त-सिन्धु-प्रदेश में बहती रुधिर की धार।
हर दिशा से उठ रहा है करुण हाहाकार ।।

क्रूर काज़ी मौलवी लेकर खुदा का नाम।
आचरण से कर रहे इस्लाम को बदनाम ।।
नष्ट मथुरा, भग्न पाटन, ध्वस्त काशीधाम।
हैं मुगल-दुर्नीति के षड्यंत्र का परिणाम ।।

वेद-विद्या-पीठ होते जा रहे हैं नष्ट ।
कर रहे हैं म्लेच्छ कितने तीर्थ पावन भ्रष्ट ।।
देव-मन्दिर भी हज़ारों हो चुके बरबाद ।
हो न पाया शान्त 'आलमगीर' का उन्माद ।।

राजपूतों या मराठों का सतत अभियान ।
शान्तिप्रिय 'सतनामियों' का भी अमर बलिदान ।।
जाट गोकुल का दुखद रोमांचकारी अन्त ।
पर न टूटा हन्त ! औरंगज़ेब का विष-दन्त ।।"

अकस्मात् पड़ा सुनाई करुण शब्द महान ।
सहज आकर्षित हुआ सबका उधर को ध्यान ।।

कुछ तिलक-धारी गले में डालकर उपवीत ।
आ गए कशमीर के पंडित दुखी भयभीत ।।
जीर्ण थे उनके वसन, मन था अतीव उदास ।
लोचनों में अश्रु कण थे, ले रहे निःश्वास ।।

गुरुचरण की शरण ली सर्वस्व अपना छोड़ ।
फिर लगे देने दुहाई दीन द्विज कर जोड़ ।।

"नाथ ! त्राहि-त्राहि करता है सकल कशमीर ।
वेदना कैसे दिखाएँ वक्ष को हम चीर ।।
शेर-अफ़गन के सिपाही आततायी क्रूर ।
हमें 'कलमा' बाँचने को कर रहे मजबूर ।।

शिखा-सूत्र उपासना पर है लगा प्रतिबंध।
आ रही सब ओर मदिरा-मांस की दुर्गन्ध ।।

धर्म-मर्यादा कुचल कर हो रहा व्यभिचार।
तरुण हिन्दू रमणियों की लाज का व्यापार ।।
अपहरण, हत्या, डकैती, कैद, फांसी, लूट।
देख सुन जिसको धरा का धैर्य जाए छूट ।।

रक्त-रंजित भूमि पर बिखरे पड़े नर-मुण्ड।
स्वर्ग पृथ्वी का बना है अब नरक का कुण्ड ।।
पिस रहा कर-भार से निर्दोष जन-समुदाय।
प्राण-संकट में नहीं रक्षक हमारा हाय !!

शासकों पर पूर्णतः हम खो चुके विश्वास।
आप हैं पीड़ित जनों की मात्र अंतिम आस ।।
शीघ्र हम शरणागतों का अब करें उद्धार।
आपसे है यह हमारी विनय वारम्वार ।।"

हृदय-द्रावक वृत्त सुनकर शान्ति-जल के मीन।
हो गए गम्भीर गुरुवर तनिक चिन्ता-लीन ।।

किन्तु गुरु-सुत हो उठा अस्थिर अशान्त अधीर।
चुभ गया हो ज्यों अचानक वक्ष में विष-तीर ।।
याद अर्जुनदेव गुरु का था उसे बलिदान।
पूज्य दादा पर उसे था अत्यधिक अभिमान ।।

आर्त-वाणी सुन हृदय में तिलमिलाया बाल।
चोट खा ज्यों सिंह-शावक हो उठे विकराल ।।

रक्त खौल उठा शिराओं में भरे अंगार।
सुप्त सागर में उठा भीषण प्रलय का ज्वार।।

फड़फड़ाए होंठ, चितवन वक्र, मन में ताप।
खुले नथुने, नसें फूलीं, तन गए भ्रू-चाप।।
क्रुद्ध मुद्रा, क्षुब्ध अंत:करण, आँखें लाल।
गया हाथ कृपाण पर उस बाल का तत्काल।।

थे चकित सब तमतमाते मुख-कमल को देख।
थी हिमानी पर लसी अरुणिम उषा की रेख।।

जब पिता ने सहज देखा पुत्र का वह रूप।
खिली अन्तर्तम-सदन में सुभग स्वर्णिम धूप।।
ज्ञात था उनको स्वयं गोविन्द का रुचि-रंग।
सुन चुके थे बाल-लीला के अनेक प्रसंग।।

जा रहे थे जब नवमगुरु पूर्व-पथ के द्वार।
नगर पटना में हुआ गोविंद का अवतार।।
मौर्य-युग की सभ्यता का नेत्र पाटलिपुत्र।
बन गया गोविन्द-क्रीड़ाक्षेत्र पाटलिपुत्र।।

पृष्ठभू इतिहास की, भागीरथी का कूल।
सांस्कृतिक वातावरण में खिल उठा वह फूल।।
मधुर सौरभ से हुआ सुरभित जगत-उद्यान।
हँस पड़ा युग के तिमिर में नया स्वर्ण-विहान।।

थे प्रवासी पिता-माता और मातुल पास।
जन्म से ही था अलौकिक रूप का आभास।।

जनक से शिशु ने लिए थे भक्ति के संस्कार।
और माँ के दूध में थी शक्ति की रसधार।।

स्नेह से वह थी खिलाती दूध, दधि, नवनीत।
लोरियाँ देकर सुनाती वीरता के गीत।।
वीर माता ने दिया सुत को चरित्र उदात्त।
कुसुम-कोमल देह में था भर दिया इस्पात।।

पूर्वजों की लघुकथाएँ थीं उसे कंठस्थ।
मन परिष्कृत, आत्म उज्ज्वल और काया स्वस्थ।।
संत-कवियों के वचन, हरि-भक्ति के गुण-गान।
प्रिय बहुत ही थे उसे गुरु-वंश के आख्यान।।

चाव अद्भुत, भाव निर्मल, दिव्य रूप स्वभाव।
हिंदु-मुस्लिम सभी पर था चुंबकीय प्रभाव।।

व्यर्थ के आकर्षणों में था न उसका ध्यान।
प्रिय खिलौने थे सदा कोदण्ड, कुंत, कृपाण।।
दान देना, न्याय भी करना, लगा दरबार।
युद्ध नकली, व्यूह रचना थे रुचिर खिलवार।।

शक्ति ने था भक्ति से उसका किया अभिषेक।
प्रकृति ने उसको सँवारा, पुरुष ने दी टेक।।
वह असाधारण गुणों से हो गया विख्यात।
लाल 'गुजरी' का सलोना सोढिकुल—अभिजात।।

छः वसंतों की सुगंधित डाल कर जय-माल।
आ गया बालक जनक के पास 'माखोवाल'।।

छत्र-छाया में पिता की हुआ उचित विकास।
'देह-रक्षा विविध-शिक्षा' का किया अभ्यास॥
आचरण से विज्ञ गुरु को हो गया विश्वास।
था कली से ही कुसुम का मिल गया आभास॥

इसलिए गुरु को न था आश्चर्य का भी लेश।
सहज स्वाभाविक लगा सुत का उन्हें आवेश॥

पर समस्या थी जटिल, उत्तर न था आसान।
जाति की संपूर्ण त्रुटियों का उन्हें था ज्ञान॥
मुस्कराए कुछ तनुज को देख गुरु मतिमान।
फिर सभा को किया संबोधित समय पहचान॥

"बंधुओ! जातीय-रक्षा है समय की माँग।
हो न सकती जो कभी भर कर कपट का स्वांग॥
दूर करने के लिए यह आसुरी अन्याय।
है हमारे आज संमुख एकमेव उपाय॥

इष्ट है यदि जीतना हमको समय-संग्राम।
तो कभी केवल न बातों से चलेगा काम॥
कर्म की दृढ़ नींव पर स्थिर प्रगति का प्रासाद।
कष्ट-कटुता में छिपा है सफलता का स्वाद॥

सत्य के स्वर पर छिड़ेगा अभय का संगीत।
त्याग की असिधार पर चलकर मिलेगी जीत॥

इसलिए हो पूर्ण ईश्वर पर जिसे विश्वास।
शत्रु से या मृत्यु से जिसको न कुछ भी त्रास।।
और हो जिसके हृदय में जाति का अभिमान।
पूर्वजों की आर्य वीर-परंपरा का ध्यान।।

चाहिए ऐसा मुझे 'नरवीर' सिंह समान।
कर सके जो धर्म के हित प्राण का बलिदान।।"

माँग यह सुनकर हुआ निःस्तब्ध जन-समुदाय।
एक मुख से भी न निकला साहसी-स्वर हाय!
छा गई गंभीरता सारी सभा में घोर।
प्रश्नसूचक दृष्टियाँ उठने लगीं सब ओर।।

दहकता था विषम अन्तर्द्वन्द्व का अंगार।
गुरुवचन सुनकर न हलका हुआ मन का भार।।
वस्तुतः सबके हृदय में था उमड़ता जोश।
पर न था सिद्धांत से व्यवहार को संतोष।।

अंत में गुरु-पुत्र ही करने उठा उद्धार।
शांत होकर स्वयं खोला मुक्ति का नवद्वार।।
नम्र मस्तक से लगा गुरु के चरण की धूल।
मुख-कमल से सरस बरसाने लगा वह फूल।।

"आपकी तो सीख है
यह जाति के अभिमान !
भय किसी को दे कभी मत
भय किसी का मान ॥

और यह भी सत्य है
गुरु-कथन के अनुसार ।
आदि-नानक ने हरा था
विश्व का दुख-भार ॥

फिर भला खद्योत-गण से
किस लिए अनुरोध ?
जब मिटा सकता स्वयं रवि
तिमिर का अवरोध ॥

हो क्षमा अविनय, रहा
जाता नहीं अब मौन ।
आपसे बढ़ कर भला
'नर वीर' होगा कौन ?"

एक झटका-सा लगा, बदला सभा का रंग ।
तड़ित की धारा बही, पुलकित हुए सब अंग ॥
रह गए क्षण भर अवाक् चकित-नयन सब लोग ।
डूबतों को मिल गया ज्यों नाव का संयोग ॥

खिल उठे गुरु तनुज की सुनकर चुटीली बात।
ज्यों अरुण को देख मुस्काए शिशिर का प्रात॥
हृदय से सुत को लगा सस्नेह चूमा सीस।
और गद्‌गद कंठ से देने लगे आसीस॥

"धन्य हो तुम धन्य, मेरे सुत ! वचन-निष्णात।
बात ही जो बात में तुमने निकाली बात॥
हूँ प्रसन्न बहुत, मुझे तुम पर बड़ा है गर्व।
आज का यह क्षण बना मेरे लिए है पर्व॥

तव-अधर से जो अभी निकला वचन अनमोल।
गाँठ उसने जटिल प्रश्नों की स्वयं दी खोल॥

है तुम्हारे भाव में भवितव्यता का भास।
नयन में है नवल-युग की कल्पना का हास॥
हो गया है पूर्ण मुझको आज यह विश्वास।
तुम रचोगे देश भारत का नया इतिहास॥

बस अभी मैंने सुनिश्चित कर लिया है मार्ग।
सामने मेरे परीक्षा की जली है आग॥

मैं स्वयं जनदुख-निवारण में सहूँगा क्लेश।
यह तुम्हारा स्वर नहीं है ईश का आदेश॥

हे सुनो द्विजवृन्द ! मेरी योजना को मान।
तुम करो निश्चिन्त दिल्ली को अभी प्रस्थान॥
चित्त में लाओ न आशंका न भय का भाव।
और औरंगज़ेब के सम्मख रखो प्रस्ताव॥

'हे मुगल-सम्राट् ! तुमको
प्रिय यथा इस्लाम।
हम सभी को इष्ट वैसे
'वाहगुरु' का नाम ॥

तुम दिखाओगे प्रजापति !
यदि हमें तलवार।
कहाँ जाएँगे भला हम
प्रजाजन लाचार ?

पर न माँगेंगे विपत् में
प्राण की हम भीख।
यह हमारे पूज्य नानक
की हमें है सीख ॥

नवम-गुरु के हाथ में है
हिन्दुओं की डोर।
चल पड़ेंगे सब उधर
वे चल पड़ें जिस ओर ॥

धर्म-परिवर्तन अगर
गुरुवर करें स्वीकार।
तो सभी हिन्दू स्वयं
हो जायँगे तैयार ॥'

इस तरह हे बन्धुओ ! यवनाधिपति औरंग।
कर सकेगा नहीं जनसामान्य को फिर तंग ॥
मैं अकेला बनूँगा उसके दमन का पात्र।
अगर आवश्यक हुआ तो वार दूँगा गात्र ॥"

घोषणा सुनकर अटल हर्षित हुए द्विज-वृन्द।
खिल उठें रवि-रश्मि से ज्यों संकुचित अरविन्द॥
शीलभद्र महान् गुरु का हुआ जय-जयकार।
कर्णभेदी ज्यों प्रपातों की गिरे जलधार॥

मान कर निर्देश सविनय जोड़ दोनों हाथ।
चल पड़े पंडित-प्रवर गुरु को झुकाकर माथ॥

कुछ दिनों के बाद गुरुजी भी चले घर छोड़।
आ गया गोविन्द के जीवन-डगर का मोड़॥
बाल-कंधों पर पड़ा दायित्व का गुरु-भार।
युग-पुरुष को था नियति का यह प्रथम उपहार॥

चित्त में गुरु के उठा था संघटन का चाव।
मूल में इस धर्म-यात्रा के यही था भाव॥
यह प्रबल अभियान था पीड़ित-जनों के हेतु।
भग्न-मानस के लिए था प्रेरणा का सेतु॥

था अनोखा यह स्वयं बलिदान का आदर्श।
दुर्जनों के साथ नैतिक शांतिमय-संघर्ष॥

हो रहा जब व्यक्तियों का हो मनोबल क्षीण।
किस तरह फिर जाति रह सकती भला स्वाधीन ?
इसलिए करने प्रथम जातीय-कायाकल्प।
एकदम गुरु ने भ्रमण का कर लिया संकल्प॥

पुत्र को सौंपा पिता ने राष्ट्र का निर्माण।
चुन लिया सद्धर्म-रक्षाहित स्वयं बलिदान॥

पूर्व जाने से उन्होंने स्मरण कर अखिलेश।
'साध-संगत' को दिया कर्तव्य का उपदेश॥
अन्त में इतना कहा छूकर तनय का माथ।
"पंथ का गौरव सुरक्षित है तुम्हारे हाथ॥"

द्वितीय सर्ग

गुरु नानक का तप, दादा की सैन्यशक्ति मनचाही।
त्याग पिता का ले गोविन्द बना था 'सन्त-सिपाही'॥



बलिदान

सूर्य हुआ था अस्त अभी सब स्वर्ण लुटाकर अपना।
निद्रा में था लीन संजोए नए दिवस का सपना॥
गिरि-कानन को निगल रही थी अन्धकार की छाया।
सान्ध्य-सरोवर में किरणों का पुण्डरीक कुम्हलाया॥

दीन क्षितिज था मौन, साँझ ने उसको छोड़ दिया था।
नभ ने थके हुए विहगों से कलरव छीन लिया था॥
सहमा हुआ पवन हेमंती फूँक-फूँक पग धरता।
सतलुज का मरकत-जल रह-रह ठण्डी आहें भरता॥

दसों दिशाओं के उर में थी घोर उदासी फैली।
मना रही थी सोग निशा भी ओढ़ ओढ़नी मैली॥
घुटा-घुटा था सारा वातावरण अपरिचित भय से।
बँधी भूमिका हो जैसे सम्भावित पूर्व प्रलय से॥

मेघों की वाहिनी दूर दक्षिण से उमड़ रही थी।
निशाचरी की दन्त-पंक्ति-सी चपला चमक रही थी॥

बैठा था गोविन्द संग मातुल के भव्य-भवन में।
गुरु-विषयक उत्कण्ठा थी सुलगी दोनों के मन में॥
चिर से उनके नहीं कुशल का समाचार आया था।
आशंकाओं से आकुल सबका मन घबराया था॥

पहुँचे थे गुरुदेव आगरा वचनामृत बरसाते ।
स्थान-स्थान पर सुप्त जाति-जीवन को पुनः जगाते ।।
ज्ञात हुआ था गुरु की गतिविधि से दिल्ली थी शंकित ।
जनमानस में उठे विसंवादी स्वर से आतंकित ।।

गुरु-कुल से औरंगज़ेब की ईर्ष्या सर्वविदित थी ।
गुरु-शिष्यों की नई शक्ति से मुगल-दृष्टि परिचित थी ।।
'राम-राय' से घर-भेदी षड्यंत्रकारियों का दल ।
भड़काने पर तुला हुआ था दिल्लीपति-द्वेषानल ।।

थी ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति उत्कट विकट समय था ।
कुछ अनिष्ट की आशंका से सबका विकल हृदय था ।।

गुरु-सुत था गंभीर विचाराकुल कृपाल ने देखा ।
मुख-मयंक पर उभरी थी चिन्ता की धुँधली रेखा ।।
अकस्मात् ही वामनेत्र उसका था लगा फड़कने ।
धर्म-धुरंधर धीर हृदय धीरे से लगा धड़कने ।।

तभी गगन में गरज उठी कर शोर घोर घनमाला ।
तिमिर-वक्ष को चीर चला चंचल चपला का भाला ।।
कोलाहल कुछ दिया सुनाई सिंहद्वार के बाहर ।
भीतर आए कुछ घबराए हुए वीर नर-नाहर ।।

उन्हें देख गोविन्दराय शिशु का था माथा ठनका ।
आकृति पर था प्रतिबिंबित विस्मय संशय भय मन का ।।

एक व्यक्ति सबसे आगे हाथों में थाल लिये था।
मानो निर्धन कल्पवृक्ष की टूटी डाल लिये था ।।
उस पर था आवरण पड़ा ज्यों अनल-शैल पर कुहरा।
या शतरंजी हाथों में हो क्रूर नियति का मुहरा ।।

थाल सामने रखकर वह था खड़ा मौन मन मारे।
जैसे दीप किसी समाधि का जलता नदी-किनारे ।।
प्रखर शीत में स्वेदस्नात वह अब तक हाँप रहा था।
मन घायल, तन थका, नेत्र में जल, कर काँप रहा था ।।

जैसे ही आवरण हटाया उसने झुककर आगे।
सहसा चौंक पड़े सब मानो घोर स्वप्न से जागे ।।
गुरुवर तेगबहादुर जी का मस्तक कटा पड़ा था।
गौरवमय इतिहास-पृष्ठ गुरुकुल का फटा पड़ा था ।।

नग्न नृत्य था वह हिंसा का, नाटक बर्बरता का।
मुगल सभ्यता का कलंक, साक्षी नर की पशुता का ।।
औरंगज़ेबी अन्ध-न्याय की थी साकार कहानी।
देख दण्ड की दारुणता पत्थर भी होता पानी ।।

दावानल-सा फैल गया यह समाचार दुखदायी।
पल भर में एकत्र होगये गुरु के सब अनुयायी ।।
फूट-फूटकर रोते थे आबाल वृद्ध नर-नारी।
अश्रुधार से अधिक धधकती थी उर की चिनगारी ।।

मलिन-मुखी शर्वरी द्रवित हो उठी विपन्न-जनों से ।
लगे बरसने टप-टप आँसू उसके भी नयनों से ।।

निर्निमेष गोविन्द-दृष्टि थी छिन्न-सीस पर ठहरी ।
चन्द्र-वदन पर गहन शोक की छाप लगी थी गहरी ।।
था असह्य शिशु-हृदय के लिए यह आघात व्यथा का ।
भार गिरा था कोमल किसलय पर हिमशैल-शिला का ।।

था उसको अनुमान दुखी माता गुजरी के मन का ।
विषम प्रश्न भी सम्मुख था अपने भावी जीवन का ।।
यह दारुण विस्फोट सहा उसने असीम धीरज से ।
एक बिंदु भी नहीं गिरा गीले लोचन-नीरज से ।।

वृत्त पूछने पर 'कृपाल' के धीर व्यक्ति वह बोला ।
गुरु की अमर शहीदी का उसने रहस्य यूँ खोला ।।

'मार्गशीर्ष का मास और थी दोपहरी की वेला ।
लाल किले के सम्मुख पथ पर लगा हुआ था मेला ।।
एकत्रित थे सभी प्रमुख अधिकारी नगर-निवासी ।
दुष्ट भेड़ियों से दुर्मुख दुर्दान्त विलोम विलासी ।।

वहाँ झुंड के झुंड मोमिनों के सब उमड़ पड़े थे ।
गुरु-दर्शन को कई भीरु हिन्दू भी छिपे खड़े थे ।।
दीन-हीन से पराधीन वे शासन से घबराए ।
गुरु पर मिथ्यारोपों का निर्णय सुनने थे आए ।।

काज़ी, मुल्ला, शेख, मौलवी, कुटिल हँसी हँसते थे ।
हर हिन्दू को देख विषैले व्यंग्यबाण कसते थे ।।

स्वयं मुगल-सम्राट उपस्थित था ऊँचे आसन पर।
पंक्ति-बद्ध सैनिक ठहरे थे अस्त्र-शस्त्र धारण कर ।।
मुगल सैनिकों ने दृढ़ता से गुरु को पकड़ रखा था।
लौह-शृंखलाओं से तापस-तन को जकड़ रखा था ।।

गुरु ने कारावास-काल में दारुण दण्ड सहे थे।
उनके पीड़ित अंग करुण निज-गाथा सुना रहे थे ।।
पर गुरु थे अव्यग्र अनाकुल अकुतोभय अद्वेषी।
आत्मिक बल को देख हुए थे विस्मित यवन विदेशी ।।

उनके साथ खड़े थे बन्दी दो गुरु-भक्त पुराने।
सत्य-धर्म की दीप-शिखा पर बने हुए परवाने ।।

एक उच्च अधिकारी ने मुख-मुद्रा क्रूर बनाए।
क्रमशः गुरु के निराधार कल्पित अपराध गिनाए ।।
फिर गुरु को सम्बोधित कर औरंगज़ेब चिल्लाया।
दे माथे पर बल, मुख पर ले घृणा-द्वेष की छाया ।।

"है सबको विज्ञात कि आलमगीर नाम है मेरा।
फैलाना इस्लाम जगत में पुण्य काम है मेरा ।।
मेरे शासन में काफ़िर का कोई स्थान नहीं है।
मेरी ताकत से टक्कर लेना आसान नहीं है ।।

ज्ञात हुआ है मुझे प्रजा मेरी से कर लेते हो।
और उसे तुम राजद्रोह की शिक्षा भी देते हो ।।
तुम हो गुरु इस्लाम-विरोधी सम्प्रदाय के नेता।
मैं भी कट्टर मुसलमान हूँ विश्रुत विश्व-विजेता ।।

क्षमा माँग लो पिछले अपराधों की, अभी समय है।
धर्म त्याग दो अपना तत्क्षण फिर न कहीं कुछ भय है ।।
अन्तिम बार कहे देता हूँ, मुसलमान बन जाओ।
जीवन भर आनन्द मनाओ अपने प्राण बचाओ ।।

निश्चय रखो, तुम्हारे आगे विपुल राज्य धर दूंगा।
वर्ना विद्रोही तत्त्वों का सत्त्व नष्ट कर दूंगा ।।"

सुनकर तेगबहादुर गुरुवर मन्द-मन्द मुस्काए।
बोले शान्त किन्तु दृढ स्वर में दक्षिण हाथ उठाए ।।

"हे मदान्ध ! क्यों शक्ति-गर्व में
तू विवेक खोता है ?
जो प्रभु की इच्छा होती है,
सदा वही होता है ।।

कितना भी चाहे तू मेरी हानि नहीं कर सकता।
जिसका स्वयं सहायक प्रभु, वह कभी नहीं मर सकता ।।
काल-पुरुष का सेवक, मुझको नहीं मृत्यु का भय है।
है सारा संसार स्वप्न, सब-कुछ परिवर्तनमय है ।।

मुझे नहीं है द्वेष किसी भी
व्यक्ति धर्म या मत से।
मेरा तो सम्बन्ध स्नेहमय
है सम्पूर्ण जगत से ।।

पर स्वधर्म का त्याग प्रलोभन या भय से अनुचित है।
भारतीय आदर्शवाद से सकल जगत परिचित है ।।

इसीलिए मैंने अपने को बलि का पात्र चुना है।
औरंगज़ेबी दण्ड-न्याय की बाबत बहुत सुना है॥

सदा धर्महित कष्ट सहूँगा
और सहर्ष मरूँगा।
पर जीते जी मैं इस्लाम
नहीं स्वीकार करूँगा॥

कुछ कशमीरी विप्र नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र पीड़ित है।
जन्म-सिद्ध मानव के अधिकारों से भी वंचित है॥
दीन-दुखीजन की स्थिति का अनुभव से ज्ञान मुझे है।
राज-द्रोह यदि है यह तो इस पर अभिमान मुझे है॥

सावधान ! तेरे भावी
जीवन का मार्ग विकट है।
और मुग़ल-साम्राज्यवाद का
निश्चित अन्त निकट है॥

चाहे कट जाए तव-सम्मुख मस्तक नहीं झुकेगा।
गुरु नानक का पंथ किसी के रोके नहीं रुकेगा॥
मैं न रहूँगा, पर जग में मेरा गुरुवंश रहेगा।
जो तेरे भग्नावशेष पर निश्चय राज्य करेगा॥"

निर्भय गुरु का उत्तर सुनकर चढ़ा नृपति का पारा।
यथा आँच से सुलग उठे फिर बुझा हुआ अंगारा॥
खाकर चोट भयंकर जैसे कालफणी फुंकारे।
नृप ने दण्डादेश दिया वधिकों को बिना विचारे॥

"मत रहने दो जीवित काफ़िर को तुरन्त संहारो।
इस विद्रोही उग्र सन्त के धड़ से सीस उतारो।।
इसके मूर्ख अनुचरों को भी मृत्यु-लोक पहुँचा दो।
जिससे शिक्षा ग्रहण करें सब ऐसा पाठ पढ़ा दो।।"

सुनते ही आदेश वधिक हथियार उठाकर दौड़े।
और चलाने लगे वक्ष पर काँटेदार हथौड़े।।
टिकटी पर लटका नंगे तन पर कोड़े बरसाए।
तीव्र उबलते पानी से फिर अंग-अंग झुलसाए।।

जब मतिदास दयालचन्द मर सके नहीं मारे से।
दो भागों में काट दिया उनको तीखे आरे से।।

पुनः अन्त में गुरुजी पर ज्योंही तलवार उठाई।
काँपा व्योम, जलधि उमड़ा, गिरि हिले, धरा थर्राई।।
खल 'जलाल' ने ऐसा भीषण हाथ खड्ग का मारा।
कटकर गुरु का सीस गिरा, बह चली रक्त की धारा।।

लगे नाचने मोमिन सब अत्यन्त हर्ष के मारे।
गूँजे तुमुल स्वरों में 'अल्ला हू अकबर' के नारे।।
था सन्तुष्ट मुगल-अधिनायक, किन्तु भ्रान्ति थी मन की।
कटा न था सिर गुरु का, जड़ थी कटी मुगल शासन की।।

सभी नपुंसक निर्लज हिन्दू कायर घोर अभागे।
नृपति-कोप के भय से अपने प्राण बचाकर भागे।।
किसी साहसी से न हो सका दाह-कर्म भी सम्भव।
मध्य चाँदनी-चौक धूलि में पड़ा रहा गुरु का शव।।

प्रकृति हो उठी क्षुब्ध देखकर यह नैतिक दुर्बलता ।
एक प्रचण्ड बवण्डर आया ताण्डव-गति से चलता ।।
अस्त-व्यस्त हो गया सभी कुछ जब अन्धड़ के कारण ।
मैंने बढ़कर हाथों में गुरु-सीस कर लिया धारण ।।

पीछे धड़ को साथ ले गया लक्खी-शाह सदन में ।
फूँक दिया घर अपना आपद्धर्म सोचकर मन में ।।
ले आया मैं शीश यहाँ दिन-रात निरन्तर चलकर ।
तेग-बहादुर गुरु के अनुपम त्याग-तेज के बल पर ।।"

सुनकर यह वृत्तान्त विषम-दुःखान्त वज्र-उर टूटे ।
होंठों से आहें निकलीं, नयनों से निर्झर फूटे ।।
धीर वीर गम्भीर बाल-गुरु विकल हो उठा ऐसे ।
भीषण झंझावात-वेग से शान्त तपोवन जैसे ।।

मोह, विषाद, घृणा, संशय, चिन्ता, आश्चर्य, निराशा ।
असन्तोष, आक्रोश, रोष, स्मृति, मति, विवेक, अभिलाषा।।
मुख पर कान्ति विभिन्न भाव-रंगों की क्रमशः फैली ।
जैसे विविध रसानुवर्तिनी कवि की रचना-शैली ।।

उस अनजाने वीर व्यक्ति को सबने बहुत सराहा ।
भरे नगर में केवल जिसने मानव-धर्म निबाहा ।।
'जीवन' उसका नाम, हृदय में जीवनज्योति जगी थी।
'रंगरेटा' था निम्न जाति का, जिसने लाज रखी थी ।।

गद्‌गद हो गोविन्दराय ने उसको पास बुलाया ।
'रंगरेटे सब गुरु के बेटे' कहकर कण्ठ लगाया ।।

उसी समय गुरु-पत्नी गुजरी परिजन सहित पधारी ।
मातृशक्ति देवी कल्याणी वीर-प्रसू युग-नारी ।।
पतिवियोग से बिह्वल तन-मन ज्यों शरविद्ध-मराली ।
असमय दग्ध तुषार-पात से मधुवन की शेफाली ।।

पति के कटे हुए मस्तक के सम्मुख ज्यों ही आई ।
मूर्च्छित-सी हो गिरी चीखकर वह टूटी शहनाई ।।
संज्ञा-शून्य बहिन को झट भाई कृपाल ने थामा ।
सिसक-सिसककर लगी बिलखने शोकाकुल गुरुवामा ।।

विप्रलब्ध गुजरी को देख सभी का धीरज छूटा ।
हृदय-व्यथा की प्रबल बाढ़ से वाष्प-बाँध भी टूटा ।।
करुण स्वरों से करने लगे विलाप सभी नर-नारी ।
निःश्वासों से धधकी अधिक तुषानल की चिनगारी ।।

अनियंत्रित यंत्रणा देख गोविन्द-हृदय भी डोला ।
स्थिति सँभालते हुए वीर गम्भीर भाव से बोला ।।

"मुझे आपकी मर्मवेदना
का पूरा अनुभव है ।
किन्तु करुण-क्रन्दन से तो
क्षति-पूर्ति नहीं सम्भव है ।।

स्वेच्छा से कोई न जन्म लेता न मृत्यु है पाता ।
वही एक ओंकार पुरुष है सबका भाग्य-विधाता ।।
कुछ कर्तव्य सौंप जग में वह हमें भेज देता है ।
नियत अवधि की परिसमाप्ति पर स्वयं बुला लेता है ।।

सभी विवश हैं उस मायावी
के विधान के आगे ।
सूत्रधार के हाथों में ज्यों
कठ-पुतली के धागे ।।

किसका शोक मनाएँ जब संसार रेत का घर है ।
क्षणिक पंचभौतिक शरीर, आत्मा ही अजर-अमर है ।।
भले नहीं है आज नवम-गुरु की क्षणभंगुर काया ।
किन्तु रहेगी हम पर उनके आदर्शों की छाया ।।

धन्य-धन्य वह शूर-शिरोमणि
अद्वितीय जग-भर में ।
'सिर दे दिया न सार दिया'
जिसने सद्धर्म-समर में ।।

किया नवम-नानक ने कलियुग में महान है साका ।
फहराती है सुरपुर में भी उनकी कीर्ति-पताका ।।
तिलक-शिखा-उपवीत के लिए गुरु ने रक्त दिया है ।
साधु जनों के परित्राण-हित यह बलिदान किया है ।।

शासन से है पुरस्कार यह
मिला शान्तिप्रियता को ।
यह है एक महान चुनौती
सारी मानवता को ।।

गुरु थे पुरुष महान् ध्येय उनका उदात्त था जग में ।
बहती थी परमार्थ भावधारा उनकी रग-रग में ।।
दीन जनों के हित स्वेच्छा से गुरु का प्राण-विसर्जन ।
जग में स्वयं अभूतपूर्व घटना है स्वर्णनिदर्शन ।।

यह जघन्य गुरुघात जाति को
सदा प्रेरणा देगा।
छिन्न सीस यह निश्चय मुगल-
निशाकर को हर लेगा॥

आज मनन-चिन्तन का क्षण है, नहीं समय रोने का।
कठिन परीक्षा सिर पर है, अवकाश नहीं सोने का॥
गुरुवध से उत्पन्न परिस्थिति पर विचार करना है।
निर्धारित कर्तव्य-मार्ग से कभी नहीं डरना है॥

हमें धर्म के लिए जूझने
का व्रत लेना होगा।
और जाति-जीवन-हित निज
जीवन भी देना होगा॥

आओ दृढ़ संकल्प करें हम इस गम्भीर समय में।
आदि 'अकाल' पुरुष का ले विश्वास पवित्र हृदय में॥
गुरु के सब श्रद्धालु शिष्य तब तक विश्राम न लेंगे।
जब तक अन्यायी शासन का अन्त नहीं कर देंगे॥

मैं भी प्रण करता हूँ अब
रघुकुल की रीति निभाकर।
अपनी विधवा माँ के चरणों
की सौगन्ध उठा कर॥

साक्षी है गुरु-सीस, धर्म पर आँच न आने दूँगा।
यह महान् बलिदान सर्वथा व्यर्थ न जाने दूँगा॥
गुरु का जो था कार्य अधूरा, पूरा उसे करूँगा।
उसी लक्ष्य की पूर्ति निमित्त जिऊँगा और मरूँगा॥"

ऐसी कठिन प्रतिज्ञा कर गोविन्द उठा आसन से।
माँ को किया प्रणाम चरण छूकर श्रद्धायुत मन से।।
फिर माँगा आसीस कि "मुझमें शक्ति अलौकिक भर दो।
हे माता ! साहस-संयम दो और विजय का वर दो।।"

बोली करुणामयी चूमकर वीर पुत्र का माथा।
"अमर रहे सर्वदा तुम्हारे जीवन की यश-गाथा।।

सच है आज सुहाग लुटा है,
मेरा दुःख अगम है।
पर शहीद की पत्नी होने का
गौरव क्या कम है ?

उस पत्नी को खेद न होगा विधवा हो जाने का।
जिसका पति अभ्यासी है बलिपथ में सो जाने का।।
मुझे गर्व है आर्यपुत्र ने जो बलिदान किया है।
स्वाभिमान से शून्य जाति का मार्ग प्रशस्त किया है।।

तुम्हें निभाना होगा
अब कर्तव्य लोकनायक का।
देख रही हूँ तुझमें अद्‌भुत
रूप दशम नानक का।।

कंटकमय है मार्ग, शत्रु है धूर्त, फूट है घर में।
निर्भय होकर कूद पड़ो ले हरि का नाम समर में।।
एक हाथ में 'ग्रंथ' दूसरे से तुम 'पंथ' उठाओ।
जनगणमन-सम्राट दशमगुरु कलगीधर कहलाओ।।"

सबने हो आश्चर्य-चकित गोविन्दराय को देखा ।
उसके मुख-मण्डल पर चमकी दिव्य तेज की रेखा ।।
गुरु नानक का तप, दादा की सैन्य-शक्ति मनचाही ।
त्याग पिता का ले, गोविन्द बना था 'सन्त-सिपाही' ।।

तृतीय सर्ग

तन-शक्ति मनोबल को पाकर पर्वत का सीस झुका देती।
तलवार लेखनी से मिलकर युग में परिवर्तन ला देती॥

साधना

रमणीक हिमाचल-अंचल में
चंचल कालिन्दी बहती थी ।
जीवित अतीत की गाथाएँ
मृत वर्तमान से कहती थी ।।

छवि देख रही थी चन्द्रमुखी
रजनी निर्मल जल-दर्पण में ।
राकेश-रश्मियां नाच रहीं
थीं सूर्य-सुता के आँगन में ।।

खूँटों पर मौन दिशाओं के
विस्तीर्ण चाँदनी थी लटकी ।
हँस रही रात की ग्वालिन थी
सिर धरे सुधाकर की मटकी ।।

थे उसकी श्याम चुनरिया पर
छिटके असंख्य कण गोरस के ।
ज्यों राजहंस के आसपास
बिखरे हों मुक्ता मानस के ।।

थी शेषनाग के केंचुल-सी
यमुना की उज्ज्वल जलधारा ।
मानो चाँदी के सैकत पर
अँगड़ाई लेता हो पारा ।।

सिमटा था रूप-सुधासागर
सरिता की कोमल बाँहों में ।
गुनगुना रही थी गिरि-बाला
निर्जन पथरीली राहों में ।।

सरिता-तट पर निर्मित गढ़ की एकांत चतुर्मुख शाला में ।
बैठा था एक युवक सुंदर जैसे सुमेरु गिरिमाला में ।।

सुगठित शरीर था गौर वर्ण,
सुविशाल हृदय, आत्मा भास्वर ।
हो वर्तमान की पुस्तक पर
जैसे भविष्य का हस्ताक्षर ।।

तन के चंदन में झलक रही सौंदर्य-स्वास्थ्य की अरुणाई ।
उसकी कौमार अवस्था में जैसे प्रतिबिंबित तरुणाई ।।

संकलित कलित कुंतल-कलाप,
ज्यों कांत कलापी की कलगी ।
उन्नत-ललाट कुन्दन-कपाट,
मुख-मंजु कलाधर का स्पर्धी ।।

मनमोहक नेत्र घनी पलकें ज्यों नील सरोवर पर बादल ।
आकर्षक नाक, अधर-पल्लव, कमनीय कपोलों के पाटल ।।

ओजस्वी आनन पर श्यामल
थी रोमराजि प्रस्फुटित प्रचुर ।
ज्यों ज्ञान-क्षेत्र में उग आए
हों भक्ति-भावना के अंकुर ।।

वह तकिए का आश्रय लेकर खोया था गहन विचारों में ।
आशा के सूत्र समेट रहा भावी युग के अँधियारों में ।।
चल-चित्र समान तभी घूमीं संपूर्ण देश की घटनाएँ ।
मस्तिष्क-मंच पर थिरक उठीं स्मृतियों की चंचल बालाएँ ।।

"दिविगत गुरु तेगबहादुर की सुन हृदय-विदारक करुण कथा ।
थी जीवित हुई पुनः जग में नरसिंहों की मृतप्राय प्रथा ।।

युग-परिवर्तक उस घटना ने जन-मानस को झंझोड़ दिया ।
शासन की हृदय-हीनता ने चिंतन-धारा को मोड़ दिया ।।
अनुपम शहीद का अंतिम स्वर जातीय क्रांति का गान बना ।
अभिशाप दैव का नवभारत के लिए स्वयं वरदान बना ।।

कर्मठ किशोर गोविंदराय गुरुवर दशमेश चमत्कारी ।
जुट गया प्राण-पण से करने दुष्कर भविष्य की तैयारी ।।

मणिरत्न जटित अद्भुत 'वितान' लाया काबुल से दुनीचंद ।
था जिसकी शोभा के सम्मुख दिल्लीपति का ऐश्वर्य मन्द ।।
फिर 'पंचकला'-शस्त्रादि लिये आया असमाधिप रत्नराय ।
उपहारों में था दर्शनीय गजराज प्रशिक्षित श्वेत-काय ।।

यूँ दूर-दूर से नित्य भक्त बहुमूल्य भेंट ले आते थे ।
पर अस्त्र-शस्त्र रण के तुरंग गुरु को सर्वाधिक भाते थे ।।

युगद्रष्टा गुरु ने था स्वदेश की दुखती रग को भाँप लिया ।
हर स्वस्थ व्यक्ति के लिये सैन्य-शिक्षा का उचित प्रबंध किया ।।
व्यायाम, खेल, अश्वारोहण, हिंसक वन-पशुओं का शिकार ।
नकली संग्राम, व्यूह-रचना का शीघ्र लगा होने प्रचार ।।

कलगीधारी ने लोकश्वर का सुंदर साज सँवारा था ।
उनकी यात्रा के साथ-साथ बजता 'रणजीत नगारा' था ।।

पर्वत-प्रदेश के पर नरेश नासमझ लगे मन में डरने ।
कहलूर-राज्य का 'भीमचंद' गुरु से अतिद्वेष लगा करने ।।
वह मूर्ख जान गुरु को बालक छल-बल से समझाने आया ।
ऐश्वर्य देखकर ललचाया संघर्ष सोचकर घबराया ।।

निश्छल गोविन्दराय गुरु ने सब भाँति असीम प्रयत्न किया ।
मतिमंद हठीले भीमचंद ने किंतु न कुछ भी ध्यान दिया ।।
गंभीर मंत्रणा हुई तभी इस विषम समस्या—संभ्रम पर ।
माता गुजरी ने ज़ोर दिया व्यवहार-नीति, बल-संयम पर ।।

"संक्रांति-काल में अभी मनो-मालिन्य बढ़ाना ठीक नहीं,
सागर में रहकर मगरमच्छ से वैर कमाना ठीक नहीं ।।
हैं शत्रु घात में लगे हुए रक्षा का पूर्ण उपाय करो,
यह समय शक्ति-संचय का है, एकत्र मित्र-समुदाय करो ।।"

सुन बुद्धिमती माता का मत गुरुमन का द्वन्द्व समाप्त हुआ,
बस उसी समय नाहन-नरेश का प्रेमनिमंत्रण प्राप्त हुआ ।।
गढ़वाली राजा फतहशाह से उसका था सीमाविवाद,
उत्सुक था वह अत्यंत शीघ्र पा लेने को गुरु का प्रसाद ।।

नीतिज्ञ दूरदर्शी गुरु ने झट आवेदन स्वीकार किया ।
दुर्लंघ्य राज्य नाहन में ही कुछ समय बिताना मान लिया ।।

सैनिक-दल, परिजन संग वहाँ जाकर गुरु ने डेरा डाला ।
एकांत मनन-चिन्तन करके सुलगाई नवजीवन-ज्वाला ।।
क्रमशः साहित्य-साधना से नवयुग का स्वर्ण-विहान हुआ ।
उपयुक्त स्थान चुन घाटी में 'पांवटा' दुर्ग-निर्माण हुआ ।।"

कल्पना-जन्य दृश्यावलि पर
छाया तब सहसा घन-तुषार।
तन्द्रिल गुरु-नयनों में झलके
मुगलों के कलुषित अनाचार ।।

"औरंगज़ेब है मानवता की भ्रातृभावना से विहीन।
संकीर्ण साम्प्रदायिकता के पंकिल जल का दुर्गंध मीन ।।
श्रद्धेय नवम नानक का वध उसकी रुचि का है परिचायक।
असहिष्णु नीति के कारण वह बन गया निरंकुश अधिनायक ।।

क्या आस न्याय की हो उससे
जो स्वयं सहोदर-घाती है।
'मुमताज' ताज में भी सोई
जन कर कुपुत्र पछताती है ।।

असहाय हिन्दुओं पर 'जज़िया' जैसा अमानुषिक दण्डभार।
इस्लाम ग्रहण कर लेने पर पद, पट्ट, प्रलोभन, पुरस्कार ।।
त्योहार बन्द, प्रतिबन्ध लगा संगीत, नृत्य, प्रतिमाओं पर।
हरिकीर्तन, कथा, हवन, पूजा, प्राचीन तीर्थयात्राओं पर ।।

है 'धर्म-शर्म' का लोप हुआ
इस झूठ कपट के शासन में।
घायल आहों का रक्त लगा
नर्तित मयूर-सिंहासन में ।।

है करुण पुकारों का उत्तर मिलता गाली या गोली से।
हैं ईद मनाते अधिकारी निर्दोष-रक्त की होली से॥
हो रही सन्तजन के विरुद्ध कुत्सित षड्यंत्रों की रचना।
पापी दुःशासन के हाथों हो गया असंभव है बचना॥

उड़ गया लगाकर पंख धर्म,
निर्दय भूपाल कसाई है।
हो सत्य-सुधांशु उदय कैसे ?
घनघोर अमावस छाई है॥

अक्षम्य पाप है राजा का निर्दोष प्रजा से भेदभाव।
कब तक डोलेगी हाय ! मुगल-सागर में भारत भाग्य-नाव ?
टूटे धीरज की अब कितनी प्रभु ! और परीक्षाएँ लोगे ?
हो चुकी प्रतीक्षा बहुत धर्म-रक्षाहित कब दर्शन दोगे ?

हे सर्व शक्तिमय, सदय-हृदय,
सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी !
हे दीनबन्धु, हे कृपासिन्धु,
हे न्यायशील, त्रिभुवन-स्वामी !

हे सर्वरूप ! तुम हो अरूप, अक्षय, अयोनि, अच्युत, अनूप।
तुम छिपे चराचर में रहते मधुमय-पय में नवनीत रूप॥
हो सबके परमपिता माता, सुखदाता, दुखियों के त्राता।
जो भिक्षा कहीं नहीं पाता, वह द्वार तुम्हारे है आता॥

अर्जुन के मन का मोह कभी
गोविंद-कृपा से था टूटा।
पर आज द्वन्द्व कण्टक-वन-सा
गोविंद-हृदय में है फूटा॥

जब कभी धर्म की ग्लानि हुई, अन्याय अधर्म लगा बढ़ने ।
जब सत्य शांति के अंबर में प्रलयंकर मेघ लगे चढ़ने ।।
सन्तों का सत्त्व बचाने को, दुष्टों का वंश मिटाने को ।
है परमपुरुष ने जन्म लिया सद्धर्मध्वजा फहराने को ।।

माना, गजराज बली की भी
तुम प्रभो, व्यथा सुन लेते हो ।
चिउँटी की किंतु पुकारों पर
तुम ध्यान प्रथम ही देते हो ?

है आज नृशंस कंस का दल बेबस गोकुल को लूट रहा ।
निर्बल सीताओं के सतीत्व का निर्मल दर्पण टूट रहा ।।
भक्तों के लिए निषिद्ध हुआ है रामनाम का उच्चारण ।
हे जग के कारण ! किस कारण कर रखा मौन तुमने धारण ?

यदि सबल सबल से टकराए
तो होता इतना रोष नहीं ।
पर सिंह अजा पर टूट पड़े,
तो क्या यह भीषण दोष नहीं ?

हे सतगुरु ! मार्ग दिखाओ तुम, कैसे क्या करें, कहाँ जाएँ ?
हाथों पर हाथ धरे कब तक हम सर्वनाश सहते जाएँ ?
नेत्रों ने आँसू पी डाले होकर निराश पाषाणों से ।
मिट सकी न भूख पिशाचों की अनगिनत मूक बलिदानों से ।।

जब काम न चलता औषध से,
तब शल्य-चिकित्सा होती है ।
हो विवश दमन से शांति—
अंत में बीज क्रांति का बोती है ।।

हमने विषधर को प्रेमसहित है दूध पिलाकर देख लिया ।
भूखे दुर्दान्त भेड़ियों को निज मांस खिलाकर देख लिया ।।
सद्भाव-संधि-सहयोग-स्नेह के यत्नों का फल देख चुके ।
है अनुनय-विनय प्रार्थना में होता कितना बल, देख चुके ।।

निःशक्त शांति की बातों से
कुछ भी तो लाभ नहीं होता ।
कितने हों तारे सूर्य-बिना
अम्बर स्वर्णाभ नहीं होता ।।

हे रुद्ररूप, हे सर्वलोह, हे दुष्ट-दमन, प्रलयंकारी !
हे महाकाल, विकराल ज्वाल, संपूर्ण असुरदल-संहारी !
निष्प्राण राष्ट्र के तन-मन में नवशक्ति नया जीवन भर दो ।
गुरुदेव ! कृपाकर शिष्यों को निज लक्ष्य-सिद्धि का शुभ वर दो ।।"

फिर स्वप्निल चित्रफलक बदला, विद्युत-गति से आवरण हटा ।
दीखी उपत्यिका पर्वत की जिसकी थी दिव्य अपूर्व छटा ।।
श्यामल हरीतिमा के कर में था कमल-सरोवर का दर्पण ।
जिसका जल दुग्ध-धवल निर्मल जैसे अलिप्त योगी का मन ।।

लिपटा था सुप्त हिमानी से मतवाला कोमल अंधकार ।
था प्रकृति-वधू ने पूर्ण पुरुष के लिए किया सोलह सिंगार ।।

धुँधले-धुँधले थे दिग्दिगन्त, कुछ-कुछ प्रकाश कुछ-कुछ तम था ।
'सच खण्ड' पहुँचकर 'नाद-बिन्दु' दोनों का अद्भुत संगम था ।।
था शून्य-गगन से फूट रहा मधुमय संगीत-सुधा-निर्झर ।
जड़-चेतन लय में डूबे थे, कण-कण में व्याप्त अलौकिक स्वर ।।

गूँजी नभ-वाणी कल्याणी टकराकर हिम के शिखरों से ।
गुरु चकित लगे करने रस का मधुपान श्रवण के अधरों से ।।

"ओ हेमकूट के अमर तपी, ओ सप्तशृंग के अधिवासी !
ओ ब्रह्मलीन, एकात्म-रूप, प्रभुचरण-सुरति-रस-अभिलाषी !
तुम मर्त्य-लोक के यात्री हो, यह परब्रह्म की माया है ।
तुम उस नाटक के नायक हो, हरि ने जो स्वयं रचाया है ।।

तुम तो 'अकाल' की आज्ञा को मन में विचारकर आए हो ।
जग का देखने 'तमाशा' बस नर-देह धार कर आए हो ।।
तुम आदि-पुरुष के सेवक हो, तुम परमपिता के प्रियसुत हो ।
घन घने विघ्न के उमड़े हैं, तुम विद्युत-गति-युत मारुत हो ।।

जग मत-विवाद में उलझा है, कुछ परम-तत्त्व का ज्ञान नहीं ।
प्रिय केवल बाह्याचार उसे, परमेश्वर की पहचान नहीं ।।
नर वेद-पुरान-कुरान पढ़ें पर ज्ञानहीन सब अंधे हैं ।
जब तक मन-दर्पण स्वच्छ न हो, जप-तप सब गोरखधंधे हैं ।।

देवता-दनुज-मुनि-सिद्ध-मनुज कुछ भी न किसी का फल निकला ।
निज-पंथ चलाते रहे सभी, प्रभुपथ पर कोई नहीं चला ।।
अब तुम प्रभु-पंथ प्रचार करो, सर्वत्र धर्म-विस्तार करो ।
पाखण्ड-कुबुद्धि हटा करके सब दुष्टों का संहार करो ।।

वह तुम हो, जिसने गीता के वचनों का मर्म बताना है ।
औ' सत्य धर्म की रक्षा में अपना सर्वस्व लुटाना है ।।

क्या हुआ अगर एकाकी हो, तुम तनिक नहीं परवाह करो।
कर्तव्य समझकर कर्म करो, फल की न कभी तुम चाह करो ।।
परमार्थ-पंथ पर बढ़े चलो, इसके दुख भी सुखदायक हैं ।
निश्चय ही विजय तुम्हारी है जब सतगुरु स्वयं सहायक हैं ।।"

इतने में सहसा दिव्य नाद क्रमशः साकार लगा होने ।
मानो तमसावृत अंबर को धीरे से सूर्य लगा धोने ।।

प्रगटे गुरुनानक, धुंध मिटी, झिलमिल निर्मल आलोक हुआ ।
सुंदर ज्योत्स्ना-निर्झर फूटा या ज्ञानशेष निर्मोक हुआ ।।
ज्योतिर्मय रूप विराजित था वरदायी मुद्रा लिये हुए ।
अक्षय हरिनाम-खुमारी का मादक मधुप्याला पिए हुए ।।

पी शब्दरूपमय अमृत, विकल आतमा को सहजानन्द मिला ।
'अनहद' के तार बजे मानो अंतर-सहस्रदल-कमल खिला ।।
'विस्माद'-अवस्था में गुरु की 'लिव' लगी, अखंड सुरति जागी ।
चैतन्य-शक्ति अभिनव पाकर मन की सारी दुविधा भागी ।।

अनुभव कर सिर पर वरद-हस्त गुरु ने फिर ज्यों आँखें खोलीं ।
चिन्तातुर स्नेहमयी माता की मूक भावनाएँ बोलीं ।।
झट तंद्रा त्याग दशम-गुरु ने माँ के छू चरण प्रणाम किया ।
जग में अजेय रहकर जीवित रहने का शुभ आसीस लिया ।।

थी ब्रह्ममुहूर्त अमृत-वेला, घुल रही तिमिर में अरुणाई ।
खोलने लगी थी मधुर अधर नीड़ों में बन्दी शहनाई ।।

सत्वर निवृत्त होकर गुरु ने शीतल यमुना में स्नान किया ।
साधना-सदन में बैठ शांत मन से अचिन्त्य का ध्यान किया ।।
'आसा दी वार' तथा 'सुखमणि' का जाप किया तन्मय होकर ।
फिर सहज-समाधि-विलीन हुए सच्चिदानन्द-सुधि में खोकर ।।

मंगलमय दिवस निकलते ही गुरु का नियमित 'दीवान' लगा ।
श्री आदिग्रंथ के पाठ सहित होने हरि का गुणगान लगा ।।

गुरु कलगीधर ने अकस्मात् जब दृष्टि घुमाई 'संगत' में ।
देखा अलमस्त फकीर वहाँ डूबा 'रूहानी-रंगत' में ।।
वह था सैय्यद बुधशाह लिए मन में व्रत 'संत-सिपाही' का ।
उसने देखा था गुरुवर में लोकोत्तर 'नूर इलाही' का ।।

झट उसे भक्तवत्सल गुरु ने सप्रेम हृदय से लगा लिया ।
स्वेच्छा से एक विधर्मी को गुरुकुल का प्रेमी बना लिया ।।
सैय्यद को जब सत्कृत होते 'संगत' विस्मय से देख रही ।
समदर्शी गुरुवर ने तत्क्षण शिष्यों से मन की बात कही ।।

"है जातपात का भेद वृथा
है ऊँच-नीच झूठा गुमान ।
हिन्दू मुस्लिम या पारसीक
जग में मनुष्य सब हैं समान ।।

सब एक मृत्तिका से निर्मित
हम कृतियाँ, कर्ता पुरुष एक ।
है भेद भेद में भी अभेद,
जल एक, पात्र हम सब अनेक ।।

है एक देह पर विविध अंग,
है एक जलधि, शत शत तरंग।
है एक अनल, लाखों स्फुलिंग,
है एक चित्र, अनगिनत रंग।।

कंचन के हैं नाना गहने,
है एक वस्त्र, परिधान भिन्न।
मूर्तियाँ विविध, पत्थर समान,
है एक रूप, पहचान भिन्न।।

मन्दिर मस्जिद पूजा-नमाज़,
चाहे पुरान, चाहे कुरान।
हैं एक लक्ष्य के भिन्न मार्ग,
है भिन्न स्वरों का एक गान।।

व्रत, तीर्थ, हवन, पाहन-पूजा,
मुद्रा, माला, काषाय वसन।
दम, दान, दया सब निष्फल हैं,
जब तक न खुलेगा ज्ञान-नयन।।

दुर्लभ्य भक्ति का दिव्य कमल
बिन गुरु की कृपा नहीं खिलता।
नर कितने स्वाँग भरे, ईश्वर
भावना-विहीन नहीं मिलता।।

पर गुरुमत के विश्वासी को
देता गुरु-पंथ दुहाई है।
निर्भय 'अकाल' के हे भक्तो!
फिर आज परीक्षा आई है।।

कुछ अगर चेत जाते पहले
क्यों मिलता दण्ड कठोर तुम्हें ?
लुटता न कभी स्वातंत्र्य-रत्न,
कहता न विश्व कमज़ोर तुम्हें ।।

वट-वृक्ष नहीं उखड़ा करते
मृदु मन्द वायु के आँचल से ।
है जिसको भी अधिकार मिला,
है मिला भुजाओं के बल से ।।

जब से नृशंस निर्मम शासक
पशु-बल के मद में चूर हुए ।
तब 'सन्त-सिपाही' बनने को
गुरु-शिष्य स्वयं मजबूर हुए ।।

शान्ति-प्रियता का अर्थ नहीं
अपमानित होकर जी लेना ।
हिंसा का ताण्डव-नृत्य देख
बस घूँट लहू के पी लेना ।।

है वह मनुष्य पशु के समान,
जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं ।
जो स्वाभिमान से हीन, उसे
जीने का भी अधिकार नहीं ।।

तुम भक्ति-शक्ति के संगम पर
स्वाधीन राष्ट्र की जय बोलो ।
संकीर्ण भावना छोड़, विश्व-
मानवता के बन्धन खोलो ।।"

कर स्पष्ट नीति अपनी गुरुवर सब लोगों से सस्नेह मिले।
दुखियों का दुख सब दूर किया, सर्वत्र हर्ष के फूल खिले।।

थे राजभवन में आमंत्रित गढ़वाल तथा नाहन-नरेश।
था विश्वबन्धु को इष्ट दूर करना दोनों का कलह-क्लेश।।
उन प्रतिपक्षी राजाओं ने गुरु का सम्यक् सत्कार किया।
प्रादेशिक जटिल समस्या पर उपयोगी सोच-विचार किया।।

गुरु ने गिरिपतियों को मुगलों की कूटनीति सब समझाई।
फिर नि:संकोच उन्हें उनकी गम्भीर भूल भी बतलाई।।

"कितनी जघन्यता है सोचो, दिल्लीश्वर को ईश्वर कहना।
संकुचित स्वार्थ की मनोवृत्ति से आत्मतृप्त होकर रहना।।
संकीर्ण रूढ़ियों की निद्रा से आज जागना ही होगा।
राष्ट्रीय हितों के लिए व्यक्तिगत लाभ त्यागना ही होगा।।

आपसी फूट से धूर्त शत्रु को कभी न लाभ उठाने दो।
अब तक जितना है रक्त बहा, तुम उसको व्यर्थ न जाने दो।।
लेकर नगण्य आधार परस्पर लड़ने और झगड़ने से।
कुछ फल न मिलेगा दिल्ली की चौखट पर नाक रगड़ने से।।

संघटित शक्ति से प्रबल शत्रु का दृढ़ता से प्रतिरोध करो।
यदि जियो जियो सम्मानसहित, वरना शहीद की मौत मरो।।"

यूँ नीतिपूर्ण सद्भावों से विभ्रम का भाण्डा फोड़ दिया।
शंकालु भिन्न दो हृदयों को दृढ़ स्नेह-सूत्र से जोड़ दिया।।
सबने प्रसन्न हो प्रेमसहित भोजन विश्राम किया मिलकर।
आया विनोद के लिए पुन: वन में शिकार का प्रिय अवसर।।

लेकर कुरंग जैसा तुरंग गुरु पूर्णतया तैयार चले।
पीछे धनुधारी नृप दोनों ले संग अनेक सवार चले ।।

कुछ दूर विशाल रसाल, साल, सेमल, सिरीस का था कानन।
जिसमें रहते थे नीलगाय, शूकर, वृक, भालू, पंचानन ।।
सहसा सम्मुख अति द्रुतगति से भयविह्वल एक मृगी निकली।
ज्यों जल में छिपने को आतुर हो कातर जालमुक्त मछली ।।

पीछे से आक्रामक मृगेन्द्र ने आकर उसे दबोच लिया।
भक्षक के प्रति रक्षक ने भी कर्तव्य शीघ्र ही सोच लिया ।।

यद्यपि शिकार शरधनु द्वारा उस समय सरल था कई गुना।
पर युवक साहसी गुरुवर ने था द्वन्द्व-युद्ध का मार्ग चुना ।।
निज वामहस्त में ढाल और दक्षिण कर में करवाल लिये।
हतबुद्धि नरेशों की कातर वाणी का प्रत्याख्यान किए ।।

होकर सतर्क भूखे नाहर को ज्यों ही गुरु ने ललकारा।
वह श्वेत-वर्ण का पंचानन बन गया धधकता अंगारा ।।

तजकर शिकार उत्तेजित वह सावेग आक्रमण को झपटा।
उसने दहाड़कर मुँह खोला, हो जैसे ज्वालामुखी फटा ।।
पर निपुण अहेरी भी अपने अद्भुत कौशल से अडिग रहा।
दुर्भेद्य ढाल पर ही उसने पंजों का तीव्राघात सहा ।।

फिर निमिषमात्र में तीक्ष्ण खड्ग से गुरु ने ऐसा वार किया।
झट विकट केसरी के कटितट को दो पाटों में काट दिया ।।
दाँतों में अँगुली दिए हुए नृप चित्र-लिखित से खड़े रहे।
यह दृश्य देख नतग्रीव भूमि में आत्मग्लानि से गड़े रहे ।।

अविलम्ब दीन-वल्लभ गुरु ने आहत हरिणी को उठा लिया ।
अपने पट से सब घाव पोंछ उसको नवजीवन दान दिया ।।

होते ही सायंकाल सहज गूँजे 'रहिरास' रसीले स्वर ।
भौतिक चिन्ताएँ डूब गईं लहराया भक्ति-सुधासागर ।।

शुभरात्रि-समय चन्द्रोदय पर आरम्भ हुआ कवि-सम्मेलन ।
कविता-रसज्ञ श्रोताओं-सा था पूर्ण शान्त यमुना का मन ।।
थी चारुचन्द्रिका की गंगा मिल रही गले कालिन्दी से ।
पंजाब प्रान्त में राष्ट्र-काव्य था जन्म ले रहा हिन्दी से ।।

कविकुलगुरु गुरु गोविन्दराय बैठे अध्यक्ष-पदासन पर ।
सेनापति मंगल अणीराय के गूँज उठे ओजस्वी स्वर ।।
औरङ्गजेब की कला-काव्य में घोर अरुचि से घबराए ।
कवि, कलाकार, विद्वान विविध गुरुचरण-शरण में थे आए ।।

मर्मस्पर्शी रचनाएँ सुन सबमें नवीन उत्साह बढ़ा ।
रणधीर-भुजाएँ फड़क उठीं, मन में बलिदानी चाव चढ़ा ।।
सबके उपरान्त स्वयं गुरु ने सस्वर निज कविता पाठ किया ।
अनुपम प्रांजल शैली द्वारा गुरुमन्त्र शक्ति का फूँक दिया ।।

"वाणी के वरद वरेण्य पुत्र
रचनाकारों का स्वागत है ।
निर्धन जगती को मिले, प्रकृति—
के उपहारों का स्वागत है ।।

साहित्य प्रतिध्वनि है युग की
मानव समाज का है दर्पण ।
जातीय चेतना का प्रतीक
जनजागृति का है चिरसाधन ।।

साहित्यकार की वाणी में
है अमृत अपार, हलाहल भी ।
उसके रचना सागर में है
शीतल जल भी, वड़वानल भी ।।

कवि पल में प्रलय मचा सकता,
धरती आकाश हिला सकता ।।
हिम को अंगार बना सकता ।
बंजर में फूल खिला सकता

युग पूछ रहा है कवियों से
रामायण कौन सुनाएगा ?
मानवता प्यासी मरती है,
गीतामृत कौन पिलाएगा ?

फिर से चौहानी राजपूत
अब राह 'चंद' की तकता है ।
रणवीर मराठों को हर क्षण
'भूषण' की आवश्यकता है ।।

तन-शक्ति मनोबल को पाकर
पर्वत का शीश झुका सकती ।
तलवार लेखनी से मिल कर
युग में परिवर्तन ला सकती ।।

हे युगस्रष्टा कवियो ! देखो
अपना गौरवशाली अतीत ।
प्रेरक शब्दावलि में गाओ
रचनामूलक नवक्रान्ति-गीत ।।

सुन्दर प्रतीक है भारतीय—
जन संस्कृति की संस्कृत-भाषा।
जिसमें है चिर शब्दायमान
मानव मन की शाश्वत आशा।।

तुम वीर काव्य, इतिहास, नीति-
ग्रन्थों का द्रुत अनुवाद करो।
सम्पन्न देव-भाषा-निधि से
जन-भाषा का भण्डार भरो।।

सुलगानी है मानव-मन में
फिर से पौरुष की चिनगारी।
घनघोर तिमिर में फूट पड़े
जिससे प्रकाश की फुलवारी।।

तन को, मन को, आत्मा को भी
सर्वथा सशक्त बनाना है।
निःस्वार्थ त्याग-भावना लिए
जन-जन का भाग्य जगाना है।।

पौष्टिक भोजन से देह स्वस्थ,
मन काव्य श्रवण से उत्साही।
हो नामस्मरण से आत्मशुद्ध,
तो मिले सफलता मनचाही।।"

सुनकर गुरुवाणी कल्याणी संकल्प-शक्ति के दीप जले।
कविजन लेकर बहु पुरस्कार गुरु के गुण गाते लौट चले।।

चतुर्थ सर्ग

अरी स्वार्थ की हीन भावने ! स्नेह-सुमन में कीट-समान ।
तू संघर्षों की जननी है ममता की अवैध सन्तान ।।

युद्ध

सुप्रसिद्ध गढ़वाल राज्य के अतुलित वैभव का दर्पण ।
आज 'श्रीनगर' बना हुआ था गिरिप्रदेश का आकर्षण ।।

राजा फ़हतशाह की कन्या के विवाह का था अवसर ।
भीमचंद समधी आया था निजसुत की बरात लेकर ।।
शान्त न हो पाई थी उसके गुरु-विरोध की चिनगारी ।
ज्वालागिरि के फटने की थी पूर्ण हो चुकी तैयारी ।।

जानबूझ कर उसने ढूँढे झूठे व्याज झगड़ने को ।
निशिदिन फैंके तरह-तरह के जाल शिकार पकड़ने को ।।

कभी पुत्र-परिणय-प्रसंग में 'श्वेत-मतंगज' का अनुरोध ।
कभी बराती-संग सैन्य को मार्ग न मिल सकने पर क्रोध ।।
गुरु-प्रवास का अर्थ मूर्ख ने पूर्ण पलायन था समझा ।
गुरु-गद्दी की जड़ उखाड़ने था षड्यंत्रों में उलझा ।।

किंतु नीति-निष्णात दशमगुरु की व्यवहार-कुशलता से ।
लोक-जागरण का आन्दोलन चलता रहा सफलता से ।।

गुरु ने तो संघर्ष मोल लेने पर किया विचार न था ।
पर उपद्रवी तत्त्वों से भी डर जाना स्वीकार न था ।।
जनगण-शोषक राजतंत्र की बिना कभी परवाह किए ।
दीन-बन्धु कर्तव्य-निरत थे पूर्ण सिद्धि का लक्ष्य लिए ।।

किंतु अवज्ञा का अनुभव कर नृप-कोपानल भड़क उठा ।
यूँ गृह-युद्ध परोक्ष रूप में करका-घन सा कड़क उठा ।।

अनायास गिरिराज जुड़े थे शुभ विवाह के अवसर पर ।
गुरुमत के सब तीव्र विरोधी पहुँचे थे दल-बल लेकर ।।
गुरु ने भी बहुमूल्य भेंट थी भेजी महासचिव द्वारा ।
सुलग उठा नृप भीमचंद की प्रतिहिंसा का अंगारा ।।

वह सहयोगी राजवर्ग को लगा निरंतर उकसाने ।
गुरु-विरुद्ध विषमय बातों से ईर्ष्यानल को भड़काने ।।

"जिसको हम ने नानक का उत्तराधिकारी था माना ।
उस विरक्त हरिभक्त धर्मगुरु का रहस्य अब है जाना ।।
त्याग साधु का वेश बना है वह सेनापति असि-धारी ।
पूर्णराज्य-सत्ता का लोलुप उद्धत और अहंकारी ।।

उस के कथित-शिष्य-सैनिक-दल कर उगाहने जाते हैं ।
प्रतिवेशी-प्रदेश में घुसकर लूटखसूट मचाते हैं ।।
दिवा-स्वप्न देखा है गुरु ने, काम किया है मनमाना ।
स्वयं प्रजा होकर राजा बनने का दु:साहस ठाना ।।

और सनातन धर्म-कर्म की उसने सीमा छोड़ी है ।
जात-पात की सब मर्यादा जान-बूझकर तोड़ी है ।।
नीचवर्ण के जाट हमारे सहचर नहीं कहा सकते ।
नानक-पंथी गुरु को हम निज नेता नहीं बना सकते ।।

गुरु दिल्लीश्वर का विद्वेषी, हम उसके हैं अनुगामी ।
राजपूत, क्षत्रियकुल-भूषण, देवी-भक्त, नृपति नामी ।।
नहीं ज्ञात है शक्ति हमारी प्रलयंकारी क्रोध उसे ।
मँहगा बहुत पड़ेगा हम से विग्रह वैर-विरोध उसे ।।

साधन और प्रशिक्षण से है हीन दीन गुरु की सेना।
हस्तामलक समान रहेगा उसे पराजित कर देना।।
गुरु को है अत्यंत भरोसा जिन पठान सरदारों पर।
नाचेंगे वे कठपुतली बन मेरे गुप्त इशारों पर।।

अभी समय है, हम सब गुरु का गर्व तोड़ डालें मिलकर।
डसने से पहले भुजंग का सिर मरोड़ डालें मिलकर।।
पथ की गुरु-बाधा निकाल कर फिर निष्कंटक राज्य करें।
दिल्लीश्वर का भी प्रसाद ले एक पंथ दो काज करें।।

सर्वप्रथम समधी-राजा कुलमर्यादा पर ध्यान धरें।
राजशत्रु की सकल भेंट बिन सोचे अस्वीकार करें।।
गुरु का जो दीवान यहां है बन्दी उसे बना लें हम।
सावधान होने से पहले गुरु पर सैन्य चढ़ा लें हम।।"

सुनते ही प्रस्ताव कुटिल गर्वित अदूरदर्शी नृपगण।
स्वार्थ-स्नेह-सौहार्द-हेतु हो गए पूर्ण सहमत तत्क्षण।।
बेबस राजा फ़तहशाह का विनय-वचन कुछ नहीं सुना।
संयुत राज्यसैन्य-परिषद् का उसे तुरंत प्रधान चुना।।

नन्दचन्द को मिली अचानक इस कुमंत्रणा की कुछ गंध।
उसने शीघ्र समेट वस्तुएं किया कूच का गुप्त प्रबंध।।
किंतु मार्ग में भीमचंद के सिपाहियों ने आ घेरा।
पर सिक्खों ने आक्रामकदल का दृढ़ता से मुंह फेरा।।

इस घटना से और अधिक झुंझलाए नृप स्वेच्छाधारी।
राजशिविर में मिलकर करने लगे युद्ध की तैयारी।।

गुरु ने जब वृत्तांत सुना विस्तार-सहित निज मंत्री से ।
विकल रागिनी सहज बज उठी क्षुब्ध हृदय की तंत्री से ।।

गुरु तो थे निर्वैर, किसी से उन्हें व्यक्तिगत डाह न था ।
और वृथा के रक्तपात में लेशमात्र उत्साह न था ।
बैठ 'पांवटा' में भविष्य के सुंदर स्वप्न संजोए थे ।
सामूहिक जन-क्रांति के लिए बीज शक्ति के बोए थे ।।

गुरुगद्दी के चिर अभिलाषी रामराय से भी मिलकर ।
और 'कालपी के ऋषिवर' को लाकर स्वयं पालकी पर ।।
गुरु ने था सहयोग-स्नेह का क्षेत्र बढ़ाया यत्नों से ।
गिरिपतियों के मित्र दलों का भेद मिटाया यत्नों से ।।

किंतु कुटिल मन समझ न पाया सरल मित्रता की भाषा ।
स्वार्थभाव के भाष्यकार ने बदली जीवन-परिभाषा ।।

"अरी स्वार्थ की हीन भावने,
स्नेह-सुमन में कीट-समान ।
तू संघर्षों की जननी है,
ममता की अवैध संतान ।।

हे कृतघ्नता की सहोदरे,
चिर सहचरी प्रलोभन की ।
असंतोष की परम प्रेयसी,
कुटिल कामिनी कंचन की ।।

षड्यन्त्रों की सूत्र धारिणी,
विश्व-शान्ति की विनाशिके ।
योग-साधना के मन्दिर में
द्वैतवाद की उपासिके ।।

हे संकीर्ण हृदय की कुंठा,
हे संशय की चिनगारी।
मोह-मरुस्थल की मृगतृष्णा,
अरी फूट की फुलवारी ।।

प्रभुता की अंधानुयायिनी,
ओ ईर्ष्या की चिरदासी।
जनमानस की चंचल मछली
पानी में रहकर प्यासी ।।

तू आती है अंधकार-मय
युग को आमंत्रण दे कर।
जन-विकास के कुसुमाकर में
पतझड़ की आँधी लेकर ।।

दुर्योधन की कपटकल्पना,
ओ आम्भीक-हृदय-हाला।
हे जयचंद-देशद्रोही की
द्वेषपूर्ण अन्तर्ज्वाला ।।

महायुद्ध की प्रथमभूमिके
हाय, मधुर विष की प्याली।
अनायास विश्वासघात कर
मनुज-रक्त पीने वाली ।।

स्नेह-समन्वय के शत-दल पर
गिरती है तू तुहिन समान।
तेरे अम्ल स्पर्श से फटता
दुग्ध-धवल एकता-वितान ।।

तेरी ही संहार-कारिणी
पद्धति पर चलकर चुपचाप ।
मिला स्वतन्त्र देश को क्रमशः
पराधीनता का अभिशाप ।।

भारत के सौभाग्य-गगन में
धूमकेतु की छाया सी ।
पड़ी हुई है संघ-शक्ति पर
तू निशाचरी माया सी ।।"

उद्वेलित हो उठे दशम-गुरु देख स्वार्थ का भीषण रूप ।
सामंती मिथ्याभिमान से थे आक्रान्त निरंकुश भूप ।।
पूर्ण बौखलाए थे वे गुरु के जातीय सुधारों से ।
वास्तव में वे आतंकित थे जनतंत्रीय विचारों से ।।

राजनीति के भ्रष्ट मार्ग में गुरु का कभी नहीं था चाव ।
मूल-मंत्र गोविंद-नीति का था सहयोग-स्नेह-सद्भाव ।।

कलगीधर एकांत प्रकृति की रम्यस्थली में चिंता-हीन ।
कवि-लेखक-समुदाय सहित साहित्य साधना में थे लीन ।।
निशिदिन गुरु दीवान लगाते, रचते मधुर काव्य के छंद ।
'नाम-जाप' का रस लेते थे या 'अकालस्तुति' का आनंद ।।

किंतु स्वार्थ के दानव ने ऐसा दारुण षड्यंत्र रचा ।
पूर्ण शांत यमुना के तट पर घोर युद्ध का शोर मचा ।।

पर्वतीय राजाओं ने संघर्ष अकारण था छेड़ा ।
ठेल दिया मिथ्याभय से उत्ताल तरंगों में बेड़ा ।।
मानवेंद्र गुरु क्षुब्ध हो उठे धर्मविरोधी कामों से ।
जनसमाज के लिए युद्ध के घातक दुष्परिणामों से ।।

तनिक न रहने दिया शांति से गुरु को विषम परिस्थिति ने।
हर युग में रावण से लोहा लिया राम की संस्कृति ने ।।

अनाहूत था यह रणसंकट विवश हुए गुरु लड़ने को।
धर्मजाति-रक्षाहित केवल कर में शस्त्र पकड़ने को ।।
बिना युद्ध के रहता जब कोई भी और उपाय नहीं।
तब वीरों के लिए युद्ध करना रिपु से अन्याय नहीं ।।

किया विचार विमर्श विचक्षण गुरु ने अपने मित्रों से।
पूर्ण योजना निश्चित कर ली युद्धक्षेत्र के चित्रों से ।।

आसपास संग्राम सूचना दावानल सी जब फैली।
देश-धर्महित स्वयं खोल दी धनियों ने धन की थैली ।।

भरती होने लगे स्वयंसेवक गुरु सेना में आकर।
गुरुमत के विश्वासी पहुँचे विविध शस्त्र-सैंधव लेकर ।।
बहनों ने भाई तो माताओं ने नयनों के तारे।
वीरपिताओं ने भी सौंप दिए दिल के टुकड़े प्यारे ।।

गुरुमाता गुरुजाया ने घर घर गुरु का संदेश दिया।
घायल वीरों की सेवा का सारा भार सँभाल लिया ।।

जन-कवियों ने भी अपनी प्रेरणामयी कविताओं से।
था बलिदानी वातावरण जगाया सुप्त दिशाओं से ।।
एक अभूतपूर्व अनुभव था बाल-वृद्ध के जीवन में।
धर्मयुद्ध का चाव चढ़ा था वीर जवानों के मन में ।।

क्रूर नियति ने गुरु-साहस की किंतु परीक्षा लेनी थी ।
जननायक को मँझधारों में नाव देश की खेनी थी ।।
रणभेरी बजने से पहले सभी 'उदासी' भाग गए ।
कायर भोजनभट्ट नीच संकट में गुरु को त्याग गए ।।

उसी रात विश्वासघात की घटना और घटी दुर्वार ।
राज-शिविर में जा पहुँचे थे गुरुदल के पठान-सरदार ।।
गुरु-सेवा में उन्हें पीर बुधशाह संग ले आया था
जान निराश्रय दीनबंधु गुरु ने सहर्ष अपनाया था ।।

ये थे भाड़े के सैनिक, तन देकर धन लेने वाले ।
चाँदी के टुकड़ों पर निज ईमान बेच देने वाले ।।

गुरु को गहरी चोट लगी अत्यन्त हृदय में खेद हुआ ।
भीमचन्द की चाल समझकर स्पष्ट शीघ्र ही भेद हुआ ।।
गुरु का था निष्कर्ष, न तृण का आश्रय लेकर वहना है ।
नर के नहीं नरोत्तम के ही सदा भरोसे रहना है ।।

प्रातःकाल 'अकाल पुरुष' का ध्यान धरा, फिर की अरदास ।
गुरु को सदा ईश्वरेच्छा में था अटूट अविचल विश्वास ।।

"हे रवि, हे शशि, हे करुणानिधि,
मेरी इतनी विनति सुनो ।
और न कुछ माँगूं तुम से मैं,
जो मन चाहे वही करो ।।

प्रभुवर, वर दो, निर्भय होकर
हर संकट का सिंधु तरूं ।
संत-सहायक बन कर मैं
ले शस्त्र युद्ध में जूझ मरूँ ।।

परम ज्योति चमकी नयनों में, अद्‌भुत शक्ति भरी उर में।
लिए 'वाहगुरु' का प्रसाद गुरु जा पहुँचे अंतः पुर में ॥

अर्धांगिनी मिली, जिसने था श्यामल अंचल ओढ़ रखा।
अधंकार में ज्यों हँसती हो एक अचंचल दीप-शिखा ॥
थी 'सुन्दरी' अनिंद्य-सुन्दरी, नव वसंत की सुषमा सी।
गुरुवर के संघर्षकाव्य में कालिदास की उपमा सी ॥

चित्रकार की मूर्त कल्पना, शुद्ध राग की सुमधुर तान।
'आदि ग्रन्थ' की टीका सी वह परम पुरुष की शक्ति समान ॥
वह थी सीता सी तपस्विनी, सावित्री सी पतिव्रता।
गोद लिए शिशु एक भरत सा बैठी थी ज्यों शकुन्तला ॥

पति ने स्नेहिल सौम्य दृष्टि से पत्नी को ज्योंही देखा।
शतशत शतदल खिले, वेणु सी बजी, लजाई स्मिति-रेखा ॥
दो हृदयों का कुछ संवाद हुआ नयनों की भाषा में।
प्रिय-वियोग की उठी कल्पना पुनर्मिलन की आशा में ॥

किंतु भावना के गीतों में से कर्तव्य-पुकार उठी।
चपल चूड़ियों के स्वर में तलवारों की झंकार उठी ॥

वह पुलकित ममता, खिलती मँहदी, सुहाग की शहनाई।
चली स्वयं साहस बटोर कर सैनिक-साज उठा लाई ॥
धनुर्बाण, तूणीर, कुंत खर, ढाल, वैजयंती तलवार।
लौह-कवच पहना कर पति को शीघ्र किया रणहित तैयार ॥

गुरु ने प्राण-वल्लभा पर फिर दृष्टि डालकर अलबेली।
प्रिय आत्मज को चूम दुलारा, फिर चुपचाप विदा ले ली ॥
यूँ स्वामी चल दिए, न पीछे मुड़े, न कोई बात कही।
वह आँचल में दूध, आँख में अश्रु लिए देखती रही ॥

फिर जाकर गुजरी माता को गुरु ने वीर-प्रणाम किया।
शत्रुघ्नी बंदूक, पाँच नाराच सहित आसीस लिया।।
"भले प्रलय ही टूटे किन्तु न माँ का दूध लजाना तुम।
वीर पिता के वीर पुत्र हो, युद्ध जीत कर आना तुम।।"

बाहर रणबाँकों के दल थे पूर्ण खड़े तैयार हुए।
पवन-दूत नीलाभ अश्व पर गुरु भी तुरत सवार हुए।।

नगर-सुरक्षा के प्रश्नों पर पहले ही था सोच लिया।
गुरु ने आगे बढ़ कर टक्कर लेने का आदेश दिया।।
भंगानी का क्षेत्र लगा सामरिक दृष्टि से उपयोगी।
वहीं प्रतिष्ठित हुए सैन्य-दल सहित वीर गुरु उद्योगी।।

संत-सिपाही उत्साही झट व्यूह-चक्र में बद्ध हुए।
प्रत्याशित आक्रमण के लिए सेनानी सन्नद्ध हुए।।
शीघ्र युद्ध का क्षण आ पहुँचा पर्वतेश हुंकार उठे।
चोट पड़ी 'रणजीत नगारे' पर गुरु भी ललकार उठे।।

तूर्ण दनादन चली गोलियाँ छन छन कर बरछे चमके।
नर-पंचानन-गन के आनन दृप्त दीप्ति से थे दमके।।
तीक्ष्ण तड़ित-गति से तलवारें झन झन कर झनकार उठीं।
गिरि-चोटी सी धनुष-कोटियाँ डंक मार टंकार उठीं।।

कड़ कड़ करती क्रूर कमानें, तड़ तड़ करते तीर चले।
धम धम धम धौंसे धुंकारे, धीर धुरंधर वीर चले।।

चली 'वैजयंती' यशवंती दंती-दल दलने वाली ।
कर्कश काली, कुपित कपाली, व्याली जैसी करवाली ।।
झपट झपट विकराल लपट, झटपट कपटीदल से लिपटी ।
अरि-घोटक को पटक पटक कर विकट कटी से जा चिपटी ।।

तरुण अरुण आभा वाले अतिभीषण भाले भभक उठे ।
क्रोधी योद्धाओं की आँखों में अंगारे धधक उठे ।।
रुण्ड मुण्ड के झुण्ड देख उद्दण्ड चण्ड रिपु चकराए ।
फण फैलाए फणधर से फरसे के डर से घबराए ।।

तभी दिखाई पड़ा दूर बेहया 'हयात खान' सरदार ।
क्रुद्ध 'महंत कृपाल' चला देने कृतघ्न को पुरस्कार ।।
भीम गदा के प्रबल वार से यवन-खोपड़ी यूँ तोड़ी ।
मानो कान्हा ने कंकर से माखन की मटकी फोड़ी ।।

यह थी पहली मुख्य सफलता जब से रण आरम्भ हुआ ।
यूँ 'विचित्र नाटक' का मानो पूर्ण सफल 'विष्कंभ' हुआ ।।

सहयोगी का अंत देखकर नीच 'नजाबत खान' बढ़ा ।
सेनापति 'संग्राम शाह' को नख से शिख तक क्रोध चढ़ा ।।
दोनों ओर लगा होने घमसान घात प्रतिघात घना ।
टकराए दो शैलशिखिर दो तूफानों में द्वन्द्व ठना ।।

स्वेदसिक्त थे, रक्त-लिप्त थे अंग, उमंग-तरंग अपार ।
हुए युगल-वारण-रण में यूँ वारंवार वार पर वार ।।
दोला-मय रणजलधि-लोल-कल्लोल वेग कुछ नहीं रुका ।
युद्ध-कला की न्याय-तुला का कोई पलड़ा नहीं झुका ।।

सहसा श्री संग्राम शाह ने खर खण्डा कसकर मारा ।
हुआ धराशायी पठान, बह चली उष्ण शोणित-धारा ।।
किन्तु 'नजाबत' का नेजा भी गया वीर की छाती चीर ।
गिरा भूमि पर कटे वृक्ष सा, गुरु-गोदी में तजा शरीर ।।

हाय, दिवस के अंत समय गुरु-सैन्य-सूर्य भी डूब गया ।
नरबलि लेकर भी रणचण्डी को आई कुछ नहीं दया ।।

चिन्तनीय थी दशा किन्तु अब समय नहीं था रुकने का ।
परिचित थे गुरु अतिक्षति से, पर प्रश्न नहीं था झुकने का ।।
हताहतों की देखभाल कर गुरु ने नव-उत्साह भरा ।
युद्धकाल में कवियों ने भी पूर्ण निभाई परंपरा ।।

अरुणोदय पर पुनः शत्रुगण टूट पड़े टिड्डी दल से ।
मुट्ठी भर के सन्त-सिपाही डटे रहे आत्मिकबल से ।।

महाप्रलय के होने पर भी नहीं हुआ था साहस भंग ।
देख देख सिक्खों का धीरज स्वयं शत्रु था मन में दंग ।।
सर्वनाश के समय जूझ मरने की उनमें भरी उमंग ।
श्री 'अकाल' की परम ज्योति के बने हुए थे सभी पतंग ।।

था राजा गोपाल खड्ग से नर-मुण्डों को काट रहा ।
उसका मतवाला भाला भी वीर-रक्त था चाट रहा ।।
मत्त मतंगज सदृश झूमता, नंदचंद सम्मुख आया ।
रख कर प्राण हथेली पर हिंसक मृगेन्द्र से टकराया ।।

राजा के भीषण प्रहार से टूट गई उसकी करवाल।
किन्तु सहायक बन कर पहुँचा गुरु का मातुल वीर 'कृपाल'।।
क्षत-विक्षत उसका शरीर हो हो गया शत्रु के सहकर तीर।
न्याय-पक्ष की हानि देख गुरु-हृदय-सिंधु हो उठा अधीर।।

लड़ा पुरोहित 'दयाराम' भी गुरु द्रोण का रूप लिए।
दुष्ट कौरवों के विरुद्ध गोविंदपक्ष का साथ दिए।।
धनुधारी गुरुवर ने सर्पिल बाणों से रवि छिपा दिया।
शीघ्र आततायी रिपुओं को युद्ध-क्षेत्र में सुला दिया।।

किन्तु असंख्य विपक्षीदल की बाढ़ भयानक रुक न सकी।
सतत आँधियों के प्रयास से गिरि की गरदन झुक न सकी।।

आ पहुँचा 'बुधशाह' उसी क्षण गुरु की विषम दशा को जान।
लिए पुत्र-बांधव-मुरीद सब बन कर ईश्वर का वरदान।।
नीच पठानों का कुकृत्य सुन उसे हुआ था पश्चात्ताप।
संत-हृदय आया था धोने आत्मरुधिर से उनका पाप।।

थे गद्गद गुरुदेव देखकर सैय्यद का चारित्रिक बल।
नए रक्त के मिल जाने से गया युद्ध का रंग बदल।।

बलिदानी नरसिंहों ने वैरी के पाँव उखाड़ दिए।
सैयद के पुत्रों ने रण में गुरु के झण्डे गाड़ दिए।।
गिरिपतियों के होश उड़ गए, जब देखा पलटा पांसा।
सेना-सहित कई राजा रण छोड़ गए देकर झाँसा।।

जैसे ही गुरुदल के हाथों में लहराई विजयध्वजा ।
रुद्ररूप बन क्रुद्ध भूप 'हरिचंद' प्रलयघन सा गरजा ।।
वह था सिद्धहस्त सेनानी निर्भय क्रूर और बदनाम ।
उसके धुआँधार बाणों से रण में घोर मचा कुहराम ।।

लगा काटने वह सिक्खों को ज्यों तक्षक तरु को चीरे ।
करने लगा सिक्ख सेना का सर्वनाश धीरे धीरे ।।

उसे देख कर 'जीतमल्ल' का क्षत्रिय-शोणित खौल उठा ।
वीर भ्रातृवध से उत्तेजित तीक्ष्णकुंत को तौल उठा ।।
वक्ष तानकर जैसे ही उसने नागिन बरछी मारी ।
मूर्छित होकर गिरा अश्व से तरुण नरेन्द्र अहंकारी ।।

जीत देख कर जीतमल्ल की उसे पठानों ने घेरा ।
पर बुधशाह वीर ने अरि के यत्नों पर पानी फेरा ।।

हो भीषण 'भीखन खाँ' ने तब नरपिशाच का काम किया ।
निज दोनाली से सैयद के दो पुत्रों को भून दिया ।।
यह जघन्य नर-हत्या कर खूनी पठान खिलखिला उठा ।
पर गुरु का तूणीर-निहित नाराच-निकर तिलमिला उठा ।।

महाकाल का रूप धरे गुरु अरिसमूह पर टूट पड़े ।
यत्र तत्र सर्वत्र रक्त के निर्झर झर झर फूट पड़े ।।
पहुँचे शीघ्र जहाँ पर भीखन खान खड़ा था अन्यायी ।
एक बाण से गुरु ने उसका किया तुरंग धराशायी ।।

फिर दो तीर चलाए युगपत् गुरु ने तने शरासन से ।
घुस आँखों में, चीर खोपड़ी जा निकले बाहर तन से ।।
भागे यवन उठा उसका शव मचा क्षेत्र में हाहाकार ।
तभी लौट आया मूर्च्छा से नृप हरिचंद बना अंगार ।।

घायल नाहर सा प्रतिहिंसक घातक वार लगा करने ।
गर्म लहू का लावा फूटा, अनगिन वीर लगे मरने ।।
गुरु पर भी उसने शर छोड़े, लगे अश्व के माथे पर ।
निकल गए कुछ दैवयोग से उनकी कर्ण-कोटि छूकर ।।

तब राजा ने कुछ विषाक्त नाराच चलाए झुँझलाकर ।
कमर बंध को चीर, टूटकर गिरे कवच से टकराकर ।।

शर लगते भड़का रोषानल गुरु-पुंगव हुंकार उठे ।
सेनाओं के सागर में भी विप्लवकारी ज्वार उठे ।।
अभयंकर प्रलयंकर गुरु ने अरि के छक्के छुड़ा दिए ।
रक्त-पिपासु कृपाण लिए धड़ से ही मस्तक उड़ा दिए ।।

भगदड़ फैली दुर्योधन के अनुयायी नरनाथों में ।
अर्जुन का गांडीव स्वयं गोविन्द लिए था हाथों में ।।

बड़ी देर तक गुरु का नृप के साथ तुमुल संग्राम हुआ ।
जो भी आया शत्रु लक्ष्य में उसका काम तमाम हुआ ।।
दिव्य दृष्टि से तभी देख गुरु ने रण का अंतिम परिणाम ।
मृत्युंजय नाराच चलाया बोल 'अकाल पुरुष' का नाम ।।

शर के लगते ही मस्तक में नृप-कर से धनु छूट गया ।
सजल मेघ सा झूम भूमि पर गिरा शत्रु, सिर फूट गया ।।
मची खलबली सेना में जब प्राण चमूपति ने त्यागे ।
घिरे वनदहन में खग मृग से गिरिपति इधर उधर भागे ।।

हुई धर्म की विजय, गगन गूँजा गुरु के जयकारों से ।
फ़तह शाह नृप हार गया था स्वयं कुटिल व्यापारों से ।।

पर इतने से ही सिक्खों को हुआ अभी संतोष न था।
विजयोन्मादी रणवीरों का मंद पड़ा कुछ जोश न था ।।
सुभट हठी कहते थे—पीछा नहीं शत्रु का छोड़ेंगे।
छीन राजधानी, नरेश का खर्व गर्व हम तोड़ेंगे ।।

गुरु ने कहा—"भगोड़ों पर अब शस्त्र चलाना ठीक नहीं ।।
हुआ मनोरथ सिद्ध व्यर्थ में रक्त बहाना ठीक नहीं ।।

अन्य लालसा नहीं, धर्म से है केवल अनुराग हमें।
नहीं चाहिये किसी राज्य का रंचमात्र भी भाग हमें ।।
रुकना नहीं पांवटा में भी अब घर की सुध लेनी है।
एक शक्ति सम्पन्न जाति की नींव शीघ्र धर देनी है ।।"

यह कह गुरु ने स्वयं शहीदों का अंतिम संस्कार किया।
फिर अपार धन की वर्षा कर वीरों का सत्कार किया ।।

पंचम सर्ग

गुरुश्रेष्ठ नानकदेव का सपना हुआ साकार है।
यह 'खालसा' युग की समस्या का उचित उपचार है।।

क्रांति

आनन्दपुर की भूमि थी जननी नए इतिहास की ।
जिसमें चतुर्दिक छा रही छवि माधुरी मधुमास की ।।

था नील अम्बर पर लगा कुंकुम उषा के भाल का ।
हँसता गुलाबी फूल था सुन्दर क्षितिज की डाल का ।।
निकली सुनहरी भोर थी सूरज मुखी के वेष में ।
वेला सजाती पुष्पवेणी सप्तपर्णी-केश में ।।

अल्हड़ प्रकृति की नववधू गजरे सजाकर हाथ में ।
घूँघट हटाए हँस रही माधव-सखा के साथ में ।।
वह पहन किंशुक-कंचुकी धानी चुनरिया डालकर ।
टीका किए थी नागकेसर का कनेरी भाल पर ।।

थी सोनचिड़िया धूप की उड़ती फुदकती जा रही ।
नभ के खुले अनुराग से क्यारी किरण शरमा रही ।।
सौरभ दिशाओं की तरुण अँगड़ाइयों पर झूमता ।
पुलकित धरा के वक्ष की ऊँचाइयाँ था चूमता ।।

नटखट 'शतद्रु' विशाल सैकत-सेज पर थी सो रही ।
थी गुदगुदाने से पवन के लहर दुहरी हो रही ।।
उन्माद में थे झूमते निर्मल कमल के ताल भी ।
अत्यन्त बौराए हुए थे रसिकराज रसाल भी ।।

अलसी लसी कलसी लिए निज सीस पर मरकत-जड़ी ।
पुखराज सी सरसों पहन पीतांबरी साड़ी खड़ी ।।
उजले कपोलों की दिखा कर मोहिनी मधुमालती ।
मधुकर-निकर पर गंध के रंगीन डोरे डालती ।।

निर्लज्ज रंभा थी उघाड़े नग्न चिकनी पिंडलियां ।
सहला रही थीं जिन्हें हरजाई अनिल की उंगलियां ।।
नवमल्लिका कचनार तरु की बांह से लिपटी हुई ।
मुग्धा जुही मधु-अंक में थी लाज से सिमटी हुई ।।

फूली हुई पगडंडियों पर मुक्त तितली घूमती ।
कजरी सुनाती मधुकरी महुए-महक में झूमती ।।
गुलनार गैंदा गुलमुहर के गुल गुलाबी थे खिले ।
बहुरंग पहने पगड़ियां मधु के बराती मनचले ।।

नव वर्ष के आरंभ का मांगलिक अवसर था बड़ा ।
गुरु के विशेष निदेश से था ज़ोर का मेला जुड़ा ।।
आई हुई थीं 'संगतें' सब देश के हर भाग से ।
गुरुदर्शनों की प्यास लेकर भक्तिमय अनुराग से ।।

'दशमांश' का उपहार अब स्वयमेव लाए थे सभी ।
गुरु के कुटिल प्रतिनिधि-जनों से तंग आए थे सभी ।।
थे मनोनीत 'मसंद' गुरु के भ्रष्ट स्वेच्छाचार से ।
करने लगे थे रक्त शोषण दुष्ट दुर्व्यवहार से ।।

भयभीत शिष्य प्रसन्न रखते थे उन्हें निज शक्ति भर।
दारिद्रय में भी पूजते थे वस्त्र भूषण बेच कर ।।
पर साधु-जीवन त्याग वे बन गए कपटी क्रूर थे।
गुरु-पंथ का धन हड़प कर निज शक्ति-मद में चूर थे ।।

निर्बाध भ्रष्टाचार की सुन रात-दिन बहुविध कथा।
गुरु ने विवश हो बंद कर दी थी 'मसंदों की प्रथा' ।।
सारी व्यवस्था में तुरत आमूल परिवर्तन किया।
अपराधियों को दण्ड देकर न्याय स्थापित कर दिया ।।

यूं प्रथम गृह-संस्कार का शुभकार्य हाथों में लिया।
गुरु ने परिस्थिति का स्वयं सापेक्ष सर्वेक्षण किया ।।
आदर्श-रक्षा श्रेष्ठ समझी अर्थ के उपलक्ष से।
थे उन्हें नैतिक मूल्य प्रियतर सदा भौतिक पक्ष से ।।

जो थे नराधम, निर्दयी, लंपट, लुटेरे, लालची।
जिनको न रुचि थी धर्म में, जिनमें न मर्यादा बची ।।
उन पातकी पाखंडियों का नाश चुनचुन कर किया।
पर सन्त-अन्तस् में जलाया स्नेह का सुन्दर दिया ।।

विद्या-विनोदी वर्ग से गुरु को बड़ा अनुराग था।
साहित्य उनकी योजना का मुख्य मौलिक भाग था ।।
गुरु थे सुपरिचित काव्य के गुण, शक्ति और महत्त्व से।
संक्रांति-युग में राष्ट्र के अनिवार्य जीवन-तत्त्व से ।।

'साहित्य रुग्ण मनुष्यता का प्राकृतिक उपचार है।
यह क्रांति का वाहन पुनर्निर्माण का आधार है।।

रहता प्रभावित समय का हर आचरण साहित्य से।
होता परिष्कृत जाति का अंतःकरण साहित्य से।।

भौतिक-समृद्धि समाज के सुख का नहीं प्रतिमान है।
साहित्य-वैभव ही सुविकसित जाति का मन प्राण है।।

जिस देश के है कोष में साहित्य का अनमोल धन।
दारुण विपत् में भी कभी संभव नहीं उसका पतन।।

साहित्य-जन्य प्रभाव का साक्षी सकल संसार है।
तलवार से भी लेखनी की तीक्ष्ण होती धार है।।

साहित्य जो युगचेतना से सहज ओत-प्रोत है।
वह शक्ति का उद्‌गम निरंतर प्रेरणा का स्रोत है।।

होता नहीं बलवान केवल देश सैन्य-प्रभाव से।
यदि शून्य हो उसका हृदय राष्ट्रीयता के भाव से।।

पाषाण में भी धड़कनें भर दे, वही साहित्य है।
जड़ यंत्र को अनुभूति का वर दे, वही साहित्य है।।

संघर्ष का इतिहास तो जड़ बुद्धि का परिणाम है।
साहित्य मन की इन्द्रधनुषी कल्पना का नाम है।।

है कल्पना भी सत्य हो जाती सतत उद्योग से।
मिलती सफलता ज्ञान-इच्छा-कर्म के सहयोग से।।

यदि शस्त्र बल का हाथ पकड़े स्नेह से सद्‌भावना।
तो युद्ध-जर्जर विश्व में हो शांति की संभावना।।

है राजनीति अभिन्न से भी भिन्न भाषा बोलती।
वाणी सुकवि की गरल में भी है सुधारस घोलती।।

साहित्य का संघर्ष में उपयोग होना चाहिये ।
अब लेखनी तलवार का संयोग होना चाहिये ॥

पर थी समस्या किस तरह साहित्य-कोष समृद्ध हो ?
जड़ लोकमानस को जगाने का मनोरथ सिद्ध हो ॥
द्रुत लाभ कैसे प्राप्त हो दुष्प्राप्य संस्कृत-ज्ञान से ?
जब तक न उतरे काव्य की भागीरथी हिमवान से ॥

गुरु ने प्रतिष्ठित पंडितों से सानुरोध बहुत कहा ।
चिकने घड़ों पर बिन्दु भर भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ा ॥
तब पांच 'निर्मल शिष्य' चुन कर भेज काशी में दिए ।
यूँ रत्न दुर्लभ हो गया सचमुच सुलभ सब के लिए ॥

फिर तो आहिर्निश देवभाषा-जन्य अक्षय कोष से ।
निर्माण जन-साहित्य का होने लगा था जोश से ॥

कोई महाभारत पुराणों की कथा में लीन था ।
कोई अगम उपनिषद के ज्ञानांबुनिधि का मीन था ॥
कुछ योग-दर्शन-नीति-वेत्ता कवि कुशल योद्धा बली ।
थे लिख रहे निजवीर पुरखों की अमर विरुदावली ॥

कुछ 'नंदलाल' प्रभृति विदेशी काव्य के उस्ताद थे ।
यूँ लोक-भाषा में विविध कवि कर रहे अनुवाद थे ॥

दशमेश गुरु की लेखनी भी वीर उर की आरसी ।
निर्बाध गति से चल रही थी खड्ग की खर धार सी ॥
'हरिनाम जाप', 'अकाल-स्तुति', गुरु-साधना के प्राण थे ।
श्री राम-कृष्ण-चरित्र गुरु के परमप्रिय आख्यान थे ॥

'चण्डीचरित्र' 'विचित्र-नाटक' भी रचे गुरु ने स्वयं।
साहित्य के 'सौंदर्य में यूं भर दिया 'सत्यं' 'शिवं' ।।

अविलंब गुरु-नगरी विविध-साहित्य का संगम बनी।
दिन रात रस बरसा रही थी काव्य की कादंबिनी ।।
राष्ट्रीय कवि-सम्मेलनों में मुखर भारत-भारती।
थी नित्य गाई जा रही स्वाधीनता की आरती ।।

कवि-वर मनीषी भर रहे जनता-हृदय में ओज थे।
गुरु भी सुकवियों के लिये बन गए राजा भोज थे ।।
ताम्बूल-वस्त्र असंख्य मुद्रा-पुरस्कार-प्रदान से।
कवि-कण्ठहार बने हुए थे गुरु सहज सम्मान से ।।

अब सर्वथा 'आनंद-पुर' आनंद का ही धाम था।
जातीय सर्वोदय सफल गुरु-नीति का परिणाम था ।।
उपलब्ध थी सबके लिए गुरु की सकल सुख-संपदा।
प्रत्येक जन-सामान्य की चिन्ता उन्हें रहती सदा ।।

फिर भी व्यवस्था-क्रम अभी पूरा नहीं निर्दोष था।
सो दीनवल्लभ-हृदय को होता नहीं संतोष था ।।
निजवेष बदला एक दिन परहित-निरत गुरुदेव ने।
चुपचाप अपने नगर की 'लंगर-व्यवस्था' देखने ।।

थे भोजनालय तो बहुत, पर कहीं भूख न मिट सकी।
थी भोज्य-सामग्री कहीं अतिन्यून, बासी, अधपकी ।।

कुछ ने कहा हम द्वार आठ पहर खुला रखते नहीं ।
कुछ ने कहा गुरुपूर्व हम भोजन खिला सकते नहीं ।।
फलतः भरे दीवान में गुरु ने उन्हें लज्जित किया ।
बेसुध प्रबन्धक-वृंद को आदेश फिर नूतन दिया ।।

"तुम अतिथि-सेवा में तनिक त्रुटि तक न आने दो कभी ।
गुरु-द्वार से भूखा किसी को भी न जाने दो कभी ।।
सब के लिए 'लंगर' खुला-भिक्षुक भले या भूप है ।
निःशक्त निर्धन व्यक्ति तो साक्षात् गुरु का रूप है ।।

इस भांति 'संगत' और 'पंगत' की अखण्ड परंपरा ।
थी चल रही अविराम जैसे कक्ष-मध्य वसुंधरा ।।

हर बाहरी आक्रमण का आघात सहने के लिये ।
थे दुर्ग रक्षाकवच से चारों दिशाओं में बने ।।

विख्यात 'भंगानी-बिजय में देख अद्भुत वीरता ।
था मिल चुका पर्वतनरेशों को बली गुरु का पता ।।
फलतः प्रतापी भीमचंद-द्विजिह्व भी कर जोड़ कर ।
नृपगण सहित गुरु का बना था मित्र ईर्ष्या छोड़कर ।।

गुरु ने उसे सहयोग का था पूर्ण आश्वासन दिया ।
चिर एकता को दृढ़ बनाने के लिए प्रेरित किया ।।
जब मुगल-शासन से छिड़ा संघर्ष राजा का प्रखर ।
गुरु ने स्वयं जाकर समर में तोड़ दी रिपु की कमर ।।

शाही कटक का आक्रमण जब भी जहां जिस पर हुआ ।
गुरु ने तुरंत सहायता देकर वचन-पालन किया ।।

निकले परंतु कृतघ्न ही वे पर्वतेश्वरगण सभी ।
जल जोहड़ों का चंद्र से पुलकित नहीं होता कभी ।।
गुरु-शिष्य जिन के प्राणहित रण में सदा मरते रहे ।
वे नीच राजा शत्रु से मिल संधियां करते रहे ।।

फिर भी अकेले धनुर्धर दशमेश घबराए नहीं ।
थे घाव सिक्खों ने कभी नीज पीठ पर खाए नहीं ।।

सुनकर निरंतर मुगलसेना की पराजय की खबर ।
सम्राट ने भेजा 'मुअज़्ज़म' शाहज़ादे को इधर ।।

उसके निकट था मीरमुंशी नंदलाल कुशल कृती ।
कवि विविध-भाषा-विद कला-कोविद गुरुप्रिय सुव्रती ।।
उसने मुअज़्ज़म को चतुरता से प्रथम सिखला दिया ।
गुरु-से अकारण युद्ध का परिणाम भी समझा दिया ।।

यूं उभय पक्षों की समन्वित दूरदर्शी नीति से ।
था टल गया संकट परस्पर प्रेमपूर्ण प्रतीति से ।।
गुरु-पक्ष से आश्वस्त हो युवराज आगे को चला ।
स्वार्थी नृपतियों पर मगर रणवज्र मुगलों का गिरा ।।

रण की घटा घनघोर थी उमड़ी बड़े उन्माद से ।
बरसी मगर अन्यत्र वह प्रभु के विचित्र प्रसाद से ।।
यूं लक्ष्य-पूर्ति निमित्त कुछ अवकाश गुरु को मिल गया ।
था दण्ड पाकर दुर्जनों का भी कलेजा हिल गया ।।

उपयुक्त वैशाखी महोत्सव का सुवर्ण सुयोग था।
गुरु ने किया इस पर्व पर सहसा नवीन प्रयोग था।।

था केशगढ़ में काबुली सुन्दर वितान तना हुआ।
गुरु-पीठिका के पृष्ठ में था गुप्त-शिविर बना हुआ।।

विस्तीर्ण भव्य मंडप में अमित जन-सिंधु था लहरा रहा।
सप्रेम श्रद्धा भक्ति से गुरु-देव के गुण गा रहा।।
होने लगा था 'सबद कीर्तन' उस भरे दीवान में।
गुरु शिष्य सब थे लीन १ ओंकार ही के ध्यान में।।

थे मंच पर आसीन गुरु मन में अनोखा प्रण किये।
अनगिन सितारों में विभाकर की विभा धारण किए।।
मोहक मुकुट उष्णीष पर थी कलित कलगी मौर सी।
थी रूपराशि खिली कुमायूँ की बसंती भोर सी।।

कमनीय दाढ़ीमूँछ-मंडित वदन की आभा धवल।
ज्यों कृष्ण-कालिंदी-वलित हो 'ताज' का सुन्दर महल।।
या तुंग हिमगिरि-कण्ठ में हो मेघमाला झूमती।
मानो अमावस चन्द्रमा के चरण-रज को चूमती।।

उत्सुक नयन सबके बने दशमेश-चन्द्र-चकोर थे।
आतुर श्रवण तन्मय अभी अज्ञात ध्वनि की ओर थे।।
मन में कुतूहल के अनेकों कठिन कटहल थे फले।
लम्बी अवधि के बाद थे गुरु 'तत्त्व' कहने को चले।।

सहसा तभी जनसभा में पंडितप्रवर 'केशव' उठा ।
करबद्ध शीघ्र प्रणाम कर उसने विनयपूर्वक कहा ।।

"हम ने किया है होम देवी को रिझाने के लिये ।
गुरुदेव के हित विजय का वरदान पाने के लिये ।।
पर्वत-शिखर पर हो रही चिरकाल से आराधना ।
देकर किसी नरश्रेष्ठ की बलि पूर्ण होगी साधना ।।

इस घोर कलियुग में सभी को कष्ट का है सामना ।
हैं आप से करते प्रभो ! हम भी कृपा की कामना ।।"

दशमेश बोले—"मुग्ध पंडित, सार कहता हूँ सुनो ।
संघर्ष के उद्यान में कलियाँ नहीं काँटे चुनो ।।

निज शक्ति से ही आत्मरक्षा आज युग का धर्म है ।
वास्तविक 'शक्ति-उपासना' का यही मौलिक मर्म है ।।
यूँ माँगने से तो कभी अधिकार मिल सकते नहीं ।
निज रक्तदान विना विजय के पुष्प खिल सकते नहीं ।।

यह देव-पूजा प्रार्थना का ढोंग सारा व्यर्थ है ।
वह धर्मपालक है यहाँ जो व्यक्ति सबल समर्थ है ।।

निश्चय रखो इस तन्त्र-मन्त्र-विधान से या होम से ।
कोई न दैवी शक्ति आएगी उतर कर व्योम से ।।
जो मनुज स्वयं सहायता अपनी कभी करता नहीं ।
भगवान भी उसकी विनय पर ध्यान तक धरता नहीं ।।

है आज मैंने भी किया आरम्भ अनुपम 'यज्ञ' का।
जिस में नहीं कुछ काम वेदी या किसी वेदज्ञ का।।

हम सब बनेंगे मन्त्र-पाठी और श्रोता भी स्वयं।
अध्वर्यु, उद्गाता व ब्रह्मा, हव्य, होता भी स्वयं।।
घृत नहीं, शोणित की पड़ेंगी किन्तु आहुतियाँ यहाँ।
नव क्रान्ति की यज्ञाग्नि में समिधा बनेंगी अस्थियाँ।।

करना पड़ेगा स्नेह, सुख-सुविधा-समूहों का हवन।
मधुस्वप्न का उत्सर्ग, विरही अश्रुओं का आचमन।।

हम डाल कर जातीय-जीवन के विकार हविष्य में।
वरदान पाएँगे अमरता का महान भविष्य में।।
हम दानवों का भय मिटाने हेतु भारतवर्ष से।
बलिदान एक नहीं अनेकों का करेंगे हर्ष से।।

लो, चमत्कार समक्ष सब के मैं दिखाता हूँ अभी।
प्रत्यक्ष 'देवी' के तुम्हें दर्शन कराता हूँ अभी।।"

यह कह दशम गुरु झट शिविर में घुस गए चतुर-प्रवर।
निःस्तब्ध 'संगत' रह गई अपना कलेजा थाम कर।।
चिर तक न पाई दर्शकों ने जब दशम गुरु की झलक।
करने लगे सब कल्पनाएँ बेतुकी कुछ देर तक।।

निकले तभी दशमेश सैनिक-वेष नव धारण किए।
नंगी चमकती तीक्ष्णतम तलवार निज कर में लिए।।

मुख के कमलसर में खिले थे रक्त फूल अनार के।
लोचन-युगल से फूटते ज्वालामुखी संहार के।।
छवि तप्त तांबे सी धरे आवेश से गुरु भर उठे।
असितड़ित चमकाते हुए घनघोर गर्जन कर उठे।।

"लो, देख लो मेरी यही तलवार देवी कालिका।
चण्डी, भवानी, भगवती है सृष्टि की संचालिका।।
यह चण्डमुण्ड, प्रचण्ड शुंभ-निशुंभ-दल-संहारिणी।
है महिष-दैत्य-विदारिणी, सुर-मनुज-मंगलकारिणी।।

यह निर्बलों की आस है, यह मुक्तिप्रद सुखधाम है।
असिरूपिणी जगदम्बिका को कोटि-कोटि प्रणाम है।।

पर आज यह देवी शिवा बलि माँगती है भक्त से।
चिर प्यास है अपनी बुझाना चाहती नर-रक्त से।।
है आज कोई वीर, मस्तक जो अभी अर्पण करे।
इस 'भगवती' का स्वयं अपने रक्त से तर्पण करे।।

यह देश-धर्म-समाज की ऋण-मुक्ति का त्योहार है।
जो प्राणदान न कर सके उस अधम को धिक्कार है।।"

सुनकर अनोखी माँग सन्नाटा सभा में छा गया।
था मोह प्राणों का अचानक वीरता को खागया।।
आतंक के हिमपात से थी रक्त-धारा जम गई।
कुछ देर को विस्मित समय की सहज गति भी थम गई।।

द्विज भीरु 'केशव' से कई चुपके खिसक कर चल दिए।
विख्यात साहस-शक्तियों के होंट थे भय ने सिए॥
संपूर्ण 'संगत' के हृदय में भ्रान्ति की छाया घिरी।
सोचा—'अधिक तप साधना से, बुद्धि गुरु की है फिरी॥'

यूँ गीदड़ों को देख चुप गुरुवर दहाड़े शेर से।
सहसा स्फुलिंग चमक पड़ा तब भस्म के उस ढेर से॥
था तरुण क्षत्रिय पंचनद का 'दयाराम' महाबली।
गुरुमुख-दिवाकर से स्वयं जिसकी खिली मन की कली॥

बोला—"अकिंचन शिष्य का सर्वस्व गुरु के अर्थ है।
गुरु पंथ सेवा हीन जीवन का प्रतिक्षण व्यर्थ है॥
है सहज आया 'वाहगुरु' से युक्त होने का समय।
सौभाग्यवश आचार्य-ऋण से मुक्त होने का समय॥

आदेश पालन मात्र ही हर शिष्य का कर्तव्य है।
बस कार्य करना इष्ट है, कारण नहीं प्रष्टव्य है॥"

उस शिष्य का कर पकड़ कर गुरु झट शिविर में ले गए।
खट से चली तलवार भीतर रुधिर के धारे बहे॥

फिर रक्तरंजित खड्ग लेकर आ गए गुरु मंच पर।
थी क्षुद्रजन के सुमन-बन को छू गई भय की लहर॥
निस्तब्धता छाई हुई थी सभा में शमशान की।
गूँजी पुनः ध्वनि तीव्रतर बलिदान के आह्वान की॥

जब 'धर्मदास' उठा बहादुर जाट दिल्ली नगर का ।
गुरु-चरणरज ले नत-नयन संकोच से कहने लगा ।।

"गुरुदेव, लज्जित शिष्य है सविलम्ब आने के लिए ।
अक्षम्य है अपराध फिर भी अब क्षमा कर दीजिये ।।
मैं सिर हथेली पर धरे गुरुशरण में हूँ आ गया ।
स्वीकार कर लें भेंट नश्वर देह की, होगी दया ।।"

गुरु ले उसे भी शिविर के भीतर पधारे वेग से ।
फिर ध्वनि सुनाई दी वहीं सिर काटने की तेग से ।।

अब तो सभी हत-बुद्धि हत्याचक्र से चकरा गए ।
गुरु का विलक्षण घोर ताण्डव देखकर घबरा गए ।।
कायर पतित श्रद्धालुओं की भीड़ थी घटने लगी ।
नक्षत्र-माला अमृतवेला में स्वयं छँटने लगी ।।

गुरु की परंतु कृपाण आई प्यास फिर लेकर नई ।
यूँ पाँच वार विचित्र बलि की माँग दुहराई गई ।।
हर बार गुरु प्रतिशिष्य को ले गए मृत्यु-निवेश में ।
हर बार ही करवाल निकली तृषित खूनी वेश में ।।

तलवार की खरधार में थे कोकनद से खिल उठे ।
नर-मेध का क्रम देखकर सबके कलेजे हिल उठे ।।

गुरुदेव अंतिमबार जब निकले न चिर तक शिविर से ।
अवशिष्ट 'संगत-सिंधु' में आवर्त प्रश्नों के उठे ।।

कुछ देर के पश्चात् गुरु आए निराले रूप में ।
जैसे खिला हो फूल केसर का बसन्ती धूप में ।।

आश्चर्य ! महदाश्चर्य !! गुरु के साथ पाँचों वीर थे ।
जीवित सभी सर्वांग सुन्दर और स्वस्थ शरीर थे ।।
गुरु और गुरु के शिष्य दोनों का स्वरूप समान था ।
थी संत-वीरोचित विभूषा केसरी परिधान था ।।

सब लोग देख 'विचित्र नाटक' हाथ अब मलने लगे ।
अति ग्लानि पश्चात्ताप की उर-ज्वाल में जलने लगे ।।
उद्‌बुद्ध जन को सान्त्वना देकर अनेक प्रकार से ।
फिर सकल 'संगत' को दिया उपदेश गुरु ने प्यार से ।।

"सन्तुष्ट हूँ मैं आज पाकर पाँच प्यारे पंथ के ।
ये हैं पवित्र उसी तरह ज्यों पृष्ठ 'आदिग्रंथ' के ।।
ये 'वाहगुरु' के सिक्ख सच्चे वीर मृत्युंजय अमर ।
है लाज रखली पंथ की निर्भय मरण का वरण कर ।।

ये पंच-पंचानन न केवल पंचनद के प्राण हैं ।
संपूर्ण भारत के प्रखर चैतन्य के प्रतिमान हैं ।।

मैं आज इन जीवित शहीदों की परीक्षा ले चुका ।
इन को नवीन उपाधि अब से 'खालसा' की दे चुका ।।
संबंध मेरा और इन का है मधुर सुर-ताल सा ।
मैं खालसा का रूप हूँ, है रूप मेरा खालसा ।।

'मैं 'पंथ' का दीक्षा-विधान बदल रहा हूँ आज से ।
कार्पण्य-दोष मिटा रहा हूँ भ्रांत भीरु समाज से ।।

गुरुदेव-चरणामृत नहीं 'पाहुल' दुधारे का पियो ।
कर प्राप्त शक्ति अजेय लौह-पुरुष सदा बन कर जियो ।।
जय हो असिध्वज, सर्वलोह, अकालमूर्ति प्रचण्ड की ।
जय दण्डधारी बाणपाणि अनंत शक्ति अखण्ड की ।।

हर 'खालसा' निजनाम में अब सिंह शब्द लगाएगा ।
वह राजपूत समान क्षत्रिय-वंशधर कहलाएगा ।।

बहु जात-पात-विभेद से भारत हुआ विकलाँग है ।
बस वर्गहीन समाज ही अधुना समय की माँग है ।।
हर खालसा का वर्ण, वेष, विचार जाति समान है ।
अब से न कोई नीच, वंचित या कुलीन, महान है ।।

है वज्र-मार्ग कठोर-साधन सिद्धि के संधान में ।
अनिवार्य 'पंच-ककार' का हो नियम पंथ-विधान में ।।
आदर्श संत-सिपाहियों का रूप सब धारण करें ।
व्यभिचार मदिरा आदि दुर्गुण छोड़ने का प्रण करें ।।

हो पंच-निर्णय में सभी को मान्य गुरुमत-भावना ।
मिट जाए अनुशासन-विहीन समाज की संभावना ।।'

'यह 'खालसा' युग की समस्या का उचित उपचार है।
गुरु-श्रेष्ठ नानकदेव का सपना हुआ साकार है।।

मैंने असुर-संहार, पंथ-प्रचार के उद्देश्य से।
है 'खालसा' सरजा महान् 'अकाल' के आदेश से।।

विद्रोह, विप्लव, दुरभिसंधि न गुप्त यह षड्यंत्र है।
परतंत्र जग की मुक्ति का यह वस्तुतः गुरुमंत्र है।।

यह जाति के संघटन की है क्रान्तिकारी योजना।
है 'खालसा' का लक्ष्य हर मंझदार में तट खोजना।।

अन्याय के विपरीत यह तो न्याय का संघर्ष है।
निज धर्महित सर्वस्व के बलिदान का आदर्श है।।

है 'खालसा' राष्ट्रीयता की लोकतंत्री भावना।
नव भारतीय समाज के कल्याण की शुभ कामना।।

यह क्रान्ति का उद्गार है, यह शान्ति का सहगान है।
यह शक्ति का संस्कार है, यह भक्ति का वरदान है।।

यह काल की है ज्वाल सा, श्री वाहगुरु का 'खालसा'।
खल के लिए करवाल सा, जन के लिए है ढाल सा।।

अन्याय का सब भाँति उन्मूलन करेगा 'खालसा'।
यदि मृत्यु भी आए, नहीं हरगिज़ डरेगा 'खालसा'।।

निर्जीव हिन्दू जाति में जीवन भरेगा 'खालसा'।
प्रत्येक पीड़ित व्यक्ति की रक्षा करेगा 'खालसा'।।

सह-भोज-सहचिंतन तथा सहकारिता-सहयोग से।
विजयी रहेगा 'खालसा' हरि-नाम शस्त्रप्रयोग से।।'

'बुझती नहीं जब तक परस्पर द्वेष की चिनगारियाँ ।
चिर शांति-हित करनी पड़ेंगी युद्ध की तैयारियाँ ।।

होगा बढ़ाना अनवरत अब संघटन की शक्ति को ।
बलिदान भी देना पड़ेगा समय पर हर व्यक्ति को ।।

जो गरल से डरते, अमृत वे पी नहीं सकते कभी ।
मरना नहीं जो जानते, वे जी नहीं सकते कभी ।।

उर में चुभो कर शूल तीखे फूल मुस्काते सदा ।
जो सर कटाते हैं, वही 'सरदार' कहलाते सदा ।।

अब है समय की माँग मेरे सिंह सरदारो, उठो ।
अनुपम अमर बलिदानियों का वीरव्रत धारो उठो ।।

तुम ही अंधेरी रात में दिन की सुनहरी आस हो ।
स्वाधीनता-संग्राम का भावी अमर इतिहास हो ।।

जनशक्ति का ब्रह्मास्त्र ले तुम शत्रु का मुँह मोड़ दो ।
पापी विदेशी विषधरों के दाँत सारे तोड़ दो ।।

यदि शत्रु संख्या-शक्ति-साधन में अधिक बलवान है ।
प्रत्येक गुरु का 'खालसा' भी 'सवा लाख' समान है ।।

अब सावधान रहो कभी विजयी निशान नहीं झुके ।
कितनी पड़े बाधा हमारी 'देग-तेग' नहीं रुके ।।

है 'पंथ' का जितना अधूरा काम, तुम पूरा करो ।
तुम धर्म-रक्षाहित जियो, तुम देशरक्षाहित मरो ।।

जब धर्मयुद्ध-समुद्र उमड़े शान्ति में विष घोल कर ।
तुम मर मिटो 'श्री सत्यपुरुष अकाल' की जय बोलकर ।।

हर एक गुरुमुख में रहे अब से नया जयघोष यह ।
'श्री वाहगुरु का खालसा, श्री वाहगुरु जी की फतह' ।।"

यह कह तुरत दशमेश ने इस्पात का भाजन लिया ।
पढ़ पंचगुरुमुख वाक् फिर तैयार 'खंडामृत' किया ।।

अनुमति लिए प्रभु की तभी सहसा उठी गुरुभामिनी ।
चमकी अलौकिक ज्योति सी आनन्दघन की दामिनी ।।
उस ने अमृत के पात्र में माधुर्य का मिश्रण किया ।
मानो प्रकृति ने पुरुष के ऊर्जस्व में रस भर दिया ।।

इस्पात की दृढ़ शक्ति, वाणी की अनाहत-रागिनी ।
कोमल मधुर सौन्दर्य, सब मिलकर त्रिवेणी थी बनी ।।
इसविधि स्वयं गुरु ने नवीन अखंड खंडामृत दिया ।
उस पात्र से ही पाँच सिंहों ने जिसे क्रमशः पिया ।।

तब लोकनायक ने चराचर में अनोखी बात की ।
निज दीक्षितों से 'खालसा' की स्वयं दीक्षा प्राप्त की ।।

युगपुरुष कितने हो चुके गोविंद अलबेला हुआ ।
आश्चर्य, पहली बार जग में गुरु स्वयं चेला हुआ ।।
गुरुशिष्य-पूर्णसमानता की यह निराली कल्पना ।
इतिहास की शोभा बनी गुरुद्वार की नव अल्पना ।।

यूँ 'खालसा' की स्थापना जन-जागरण-वाहन बनी ।
शतधार बन बहने लगी नव अमृत की मन्दाकिनी ।।
पीड़ित-दलित-जन अमित पीकर अमृत हो निर्मल उठे ।
फिर एक दीपक से अनंत नवीन दीपक जल उठे ।।

षष्ठ सर्ग

'सन्त-सिपाही' कभी किसी पर पहले वार नहीं करते हैं।
सदा आक्रमणकारी के मस्तक पर विजय-चरण धरते हैं।।

संघर्ष

बैठे थे गोविन्द-भवन में चिंतित पर्वतीय राजागण।
सहज सुन रहे थे गुरुवर का मधुर सार-गर्भित संभाषण ।।

"हे क्षत्रिय-वंशाभिमानियो! तुम किन सपनों में खोए हो ?
राष्ट्र-जागरण की वेला है, जानबूझकर क्यों सोए हो ?

आज छत्रपति का अनुशासन तुम्हें मुक्ति का मार्ग दिखाता।
सुभट मराठों का केसरिया दक्षिण-पथ में है लहराता ।।
छत्रसाल बुन्देल-खण्ड में रिपु के पांव उखाड़ रहा है।
मारवाड़ की वीरभूमि से दुर्गादास दहाड़ रहा है ।।

चंद्रगुप्त की सेनाओं का गूँज रहा जयनाद अभी तक।
पुरु के अमर शौर्य की गाथा है झेलम को याद अभी तक ।।

हल्दीघाटी पूछ रही है मेरा आज प्रताप कहाँ है ?
शक्तिसिंह का भ्रातृप्रेम, चंचल चेतक की टाप कहां है ?
शब्दवेध-संधान करेगा कौन अरावलि के पर्वत से ?
शकुंतला का दूध मातृऋण मांग रहा है पुत्र भरत से।

पीड़ित पद्मिनियों को गोरा-बादल का विश्वास चाहिए।
'आल्हा' गाने वालों को फिर एक नया इतिहास चाहिए ।।

गंगा का घायल सिंदूर भगीरथ को दिन-रात पुकारे।
यमुनाजल में डूब गए क्यों चंद्रवंशियों के अंगारे ?
कहाँ राम का धनुर्बाण है ? कहाँ कृष्ण का चक्र सुदर्शन ?
दुर्गा की तलवार क्यों नहीं करती अब असुरों का मर्दन ?

पांडव मौन धरे बैठे हैं, कैसी दुर्योधन की माया।
पांचाली की लाज बचाने है 'गोविंद' अकेला आया ।।

उठो भीम अर्जुन की संतानो ! हाथों में शस्त्र उठा लो।
मिलकर मेरे साथ डूबती नौका की पतवार सँभालो ।।
तुम हो यवनों, शकों और हूणों के विश्रुत वीर विजेता।
भूले क्यों अपना स्वरूप ? तुमको है समय चुनौती देता ।।

याद रखो, यदि अभी न सँभले तो पतझर से शीघ्र झरोगे।
मेरे पथ की बाधा बनकर तुम अपना ही अहित करोगे ।।

गुरु के उद्‌बोधक वचनों से आहत हुआ अहं नृपगण का।
राजप्रमुख अजमेरचंद ने प्रकट कर दिया मत्सर मन का ।।

"क्षमा करें धृष्टता आप हैं नानक-पंथी धार्मिक नेता।
ब्रह्म-ज्ञानी, समदर्शी गुरु, जनहितकारी काव्य-प्रणेता ।।
त्याग साधु का जीवन फँसते राजनीति के क्यों झंझट में ?
रख सशस्त्र सेना क्यों पड़ते हिंसापूर्ण युद्ध-संकट में ?

राज्य-भोग-लिप्सा आतमा की परम शांति को हर लेती है।
संतों के हाथों में तो जपमाला ही शोभा देती है ।।"

"निर्जन वन में आत्म-मुक्ति की स्वार्थसाधना श्रेय नहीं है।
जगजीवन से मात्र पलायन तो योगी का ध्येय नहीं है ॥

मैं निष्काम कर्मयोग का जीवन में अभ्यास कर रहा।
राजनीति की दल-दल में हूँ कमलपत्र सा वास कर रहा ॥
विषम परिस्थितियों ने मुझको लड़ने पर मजबूर कर दिया।
अन्यायी शासन ने शस्त्र पकड़ने पर मजबूर कर दिया ॥

सच मानो मेरी कृपाण को वृथा रक्त की प्यास नहीं है।
मुझे अकारण युद्धमार्ग पर चलने का अभ्यास नहीं है ॥

सदा सच्चिदानंद-निरत मैं सर्व-जगत का सुख-अभिलाषी।
हिंदू-मुसलिम, राम-रहीम समान मुझे हैं काबा-काशी ॥
मुझे किसी भी जाति 'धर्म' भाषा से किंचित् द्वेष नहीं है।
राज्य-स्थापना मेरे जीवन का निश्चित उद्देश नहीं ॥

मुझे शांति की आवश्यकता है समाज-कल्याण के लिये।
एक प्रबुद्ध सशक्त जाति के सुन्दर नवनिर्माण के लिये ॥

किंतु प्रजा के प्रति राजा ने जब अपना कर्तव्य भुलाया।
मैंने देशधर्म-रक्षाहित वीर 'खालसा पंथ' सजाया ॥
मैं मानवता पर पशुबल का अत्याचार नहीं सह सकता।
सामाजिक प्राणी आवेष्टन से निरपेक्ष नहीं रह सकता ॥"

"हम तो अपने इष्टदेव को पूज लोक परलोक सुधारें।
छोड़ सनातन हिंदू धर्म, विरोधी 'पंथ' भला क्यों धारें ?
हम हैं वर्णाश्रम-विश्वासी, आप विरोधी जात-पात के।
भला कहाँ तक दूर हो सकेंगे अंतर दिन और रात के ॥"

'पंथ खालसा' घृणा, द्वेष, प्रतिहिंसा का परिणाम नहीं है।
हिंदू धर्म-विरोधी किसी नए मज़हब का नाम नहीं है ।।

'पंथ खालसा' है महान आदर्श वस्तुत: मानवता का ।
सामूहिक व्यक्तित्व त्यागमय-भ्रातृभाव-सेवा-समता का ।।
यह संघटन बना है तन मन धन अर्पण करने वालों का ।
देश-धर्म की बलिवेदी पर हंस-हंस कर मरने वालों का ।।

शक्ति-भक्ति-साहित्य-शील-संयम की है पंचामृतधारा ।
पीकर जिसको अमर बना है 'पंथ' वाहगुरुजी का प्यारा ।।

'पंथ खालसा' भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग है ।
जैसे फूलों में सुगंध है, जैसे सागर में तरंग है ।।
इसी पंथ के अनुयायी हम कहलाते हैं संत-सिपाही ।
निर्भय देशभक्त, जनसेवी, सच्चे सिक्ख, सिंह उत्साही ।।

औरंगज़ेब नहीं उसका अन्याय मिटाना लक्ष्य हमारा ।
मानवता को दानवता से मुक्त कराना लक्ष्य हमारा ।।

लक्ष्य-प्राप्ति के लिए शृंखला की हर कड़ी जोड़नी होगी।
मनुज मनुज के मध्य विभाजन की दीवार तोड़नी होगी ।।
है चरित्र आधार जाति का, जन्म जाति का मूल नहीं है ।
वर्ण-साम्य की विश्वरूप-कल्पना धर्म-प्रतिकूल नहीं है ।।

राजपूत-कुल के गौरव भी हैं म्लेच्छों के चरण चाटते ।
विधर्मियों को कन्याएँ देकर अपनों का गला काटते ।।
तज कर मिथ्यादंभ जाति का, तुम जनगण को गले लगाओ।
मत यवनों के क्रीतदास बन 'जयचंदों' का पथ अपनाओ ।।

मन का भय भ्रम दूर करो तुम मेरे सहयोगी बन जाओ ।
हिंदूधर्म-जाति की रक्षा का मिलकर सब बोझ उठाओ ।।"

"गिनती के कुछ जाट, जुलाहे, धोबी, नाई या हलवाई ।
निपट गँवार करेंगे शाहीसेना से क्या खाक लड़ाई ।।
बकरा खा जाने वालों की शकल देखकर डर जाएँगे ।
चिड़ियों से दुर्बल वे शहबाज़ों से पिट कर मर जाएँगे ।।"

"भूल गए क्या तुम भी मेरे वीर विजेता संत-सिपाही ?
यमुना, व्यास तथा सतलुज के देते हैं रण-क्षेत्र गवाही ।।
यही अंकिचन लोग मुझे हैं अपने प्राणों से भी प्यारे ।
संकट के घन अंधकार में हैं मेरी आशा के तारे ।।

यही शक्ति से अमृत-कलश हैं जिन में छल का छेद नहीं है ।
सच पूछो तो मुझ में औ, मेरे सिक्खों में भेद नहीं है ।।

गुरु के सिक्ख सिंह बन जाते अजर अमर खंडामृत पीकर ।
पाषाणों का वक्ष चीर कर रख देते निर्झर के सीकर ।।
विश्वशांति से प्रेरित ये रहते उद्यत संघर्ष के लिए ।
हैं निर्वैर भाव से करते धर्म-युद्ध आदर्श के लिए ।।

सदा सफलता बलिदानी वीरों के चरण छुआ करती है ।
समर-भूमि में शस्त्र नहीं साहस की विजय हुआ करती है ।।
सैन्य-शक्ति संकल्प-शक्ति के संमुख निसन्देह झुकेगी ।
प्राण-हानि के भय से जन-आन्दोलन की गति नहीं रुकेगी ।।

शपथ खड्ग की लेकर अपनी अटल प्रतिज्ञा मैं दुहराऊं ।
सहज 'खालसा' के बल पर ही धरती से अन्याय मिटाऊँ ।।
जिसे असंभव तुम कहते—मैं संभव उसको कर दिखलाऊँ ।
'चिड़ियों से जब बाज़ लड़ाऊं तब गोविंद सिंह कहलाऊँ' ।।"

सिंह-गर्जना सुन गुरुवर की धूर्त पर्वतेश्वर घबराए।
गरल भरा जिन के मन में, वे अमृतसरोवर देख न पाए ।।

बहरे कानों में पड़ निष्फल हुई जातिरक्षा की बातें।
बीज नहीं उगता ऊसर से चाहे कितनी हो बरसातें ।।
आत्महीनता अन्य व्यक्ति की भला श्रेष्ठता कब सह पाती।
मधुरस के सिंचन से भी है नहीं नीम की कटुता जाती ।।

होकर गुरु से विदा शीघ्र राजाओं ने योजना बनाई।
गुरु को पराभूत करने आनन्दपुरी पर आँख लगाई ।।

देश-द्रोहियों ने धन देकर मुगलों से गठजोड़ कर लिया।
हाय, स्वार्थ ने हिन्दुजाति से स्वाभिमान का अंश हर लिया ।।
झट सम्राट-निदेश प्राप्त कर दिल्ली के दो सेनानायक।
दस सहस्र मुगलों को लेकर राजाओं के बने सहायक ।।

मिली सूचना जब गुरु को 'खालसा' तुरत तैयार होगया।
रिपुदल का आक्रमण रोकने लोहे की दीवार हो गया ।।

पुर से कुछ ही दूर हुई दो पक्षों में मुठभेड़ भयंकर।
चली गोलियाँ आग उगलतीं बरसे खरतर शर सर् सर् सर् ।।
मुट्ठी पर सिंहों ने रिपु सेना के खट्टे दाँत कर दिए।
राशि राशि लाशों से पल में सब जंगल मैदान भर दिए ।।

हाहाकार मचा मुगलों में राजाओं के होश उड़ गए।
आँधी के हलके झोंके से महा प्रलय के मेघ मुड़ गए ।।

जब देखा पैंदाख़ाँ ने अस्तंगत अपना भाग्य-सितारा ।
खर्व गर्व से द्वन्द्व-युद्ध के लिये स्वयं गुरु को ललकारा ।।
धनुधारी गुरुदेव मुगल की महामूर्खता पर मुस्काए ।
सुघड़ सजीले नीले घोड़े पर सवार हो सम्मुख आए ।।

कुटिल हँसी हँसकर पठान बोला गुरुवर से 'बाण चलाओ ।'
उत्तर मिला तुरन्त "वीरता का मत दम्भ हमें दिखलाओ ।।
संत-सिपाही कभी किसी पर पहले वार नहीं करते हैं ।
सदा आक्रमणकारी के मस्तक पर विजय-चरण धरते हैं ।।

अभिमानी पैंदाखाँ ने जल भुन कर दो दो बाण चलाए ।
पर 'अकाल' की अनुकम्पा से गुरु की छाँह नहीं छू पाए ।।

हतप्रभ देख शत्रु को गुरु ने झट चिल्ले पर तीर चढ़ाया ।
लौह कवच-प्रच्छन्न देह में कर्ण-कुहर को लक्ष्य बनाया ।।
फुंकारता हुआ शर दोनों कानों में से पार होगया ।
गिरा अश्व से अरि चिल्लाकर तुरत मृत्यु की नींद सोगया ।।

दीन हीन सा दीनबेग भी घायल होकर रण से भागा ।
लौट गया होकर हताश राजाओं का दल निपट अभागा ।।

भारी विजय मिली थी गुरु को अति प्रसन्न हर वीर हुआ था ।
पर भविष्य में प्रश्न आत्मरक्षा का भी गम्भीर हुआ था ।।

राजवंश के षड्यन्त्रों से सजग दूरदर्शी गुरुवर ने ।
दूर दूर सन्देसे भेजे सिक्खों को एकत्रित करने ।।
गुरु के आवाहन पर सेवक दूर दूर से दौड़े आए ।
कठिन परीक्षा और विषम बाधा से कभी नहीं घबराए ।।

"गुरु का एक लाडला अनुचर,
जोगासिंह जवान सजीला।
अनुमति से घर गया हुआ था,
ब्याह रचाने रंगरंगीला।।

दूल्हा बना हुआ बैठा था,
मंडप में वरमाला डाले।
संग सजी सिमटी दुल्हन थी,
सुन्दर घूँघट सहज निकाले।।

शहनाई के मधुर स्वरों में,
गूँज रही थी ध्वनि कल्याणी।
साथ गा रहे थे रागी भी
मंगल-गानमयी गुरु-वाणी।।

नव-दंपति ने अभी लिए थे,
केवल दो विवाह के फेरे।
गुरु-सन्देशपत्र आ पहुँचा,
जिसने सब मधुस्वप्न बिखेरे।।

लिखा हुआ था 'देश-धर्म पर
हैं संकट के बादल छाए।
तुरत पत्र पढ़ते ही पहुँचो,
बिना स्वल्प भी समय गँवाए'।।

पढ़ते ही गुरुवर की आज्ञा
गुरुमत का अनन्य विश्वासी।
चलने को तैयार हो गया,
घर में छाई घोर उदासी।।

स्तम्भित सी नववधू रह गई,
सब ने बहुतेरा समझाया।
पर दो फेरे लेने तक भी,
वह गुरुभक्त नहीं रुक पाया ।।

वर के उत्तरीय से ही थी,
शेष वधू ने रीति निबाही।
गुरु-दर्शन को तुरत चल दिया,
वह निर्मोही सन्त सिपाही ।।"

ऐसे अद्‌भुत उदाहरण तो प्रायः प्रतिदिन ही थे मिलते।
जिन से गुरु के मानस में नव आशाओं के सरसिज खिलते ।।

"माँझे के गुरुभक्त वीर जाटों का एक प्रमुख यात्रीदल।
चलते चलते रुका मार्ग में देख मनोहर विश्रामस्थल ।।
सुस्ता रहे लोग थे दुर्गम पथ की अभी थकान मिटाने।
नवल किशोरी एक चल पड़ी सरस प्रकृति से जी बहलाने ।।

मधुर राग था कुआँ छेड़ता, सुन कर पीपल झूम रहे थे।
नभ के गन्धर्वों के स्वर हर दिशा-अधर को चूम रहे थे ।।

शस्य-श्यामला थी वसुन्धरा, धानी आँचल था लहराता।
मक्की का तारुण्य देख कर खेत बाजरा का मुस्काता ।।
नटखट ईख मधुर रसवन्ती थी नभ से आँखें लड़ा रही।
गर्भवती अरहर बेचारी लज्जा से थी झुकी जा रही ।।

विद्रुम की मणि-मालाओं से हरी मिर्च थी देह सजाती ।
कहीं कपास पहन कंचन के कुण्डल दुलहन सी इतराती ।।
कवि की सरस लेखनी सी निर्बाध चल रही वायु सुहानी ।
दुश्चरित्र की दृष्टि-सदृश था मटमैले पोखर का पानी ।।

दीप-शिखा सी 'दीपकौर' वह दिशा दिशा आलोकित करती ।
सजधज करके हंसगामिनी बढ़ी जा रही थी डग भरती ।।

उसे अकेली देख चार बटमार पठान लोभ के मारे ।
बोले झटिति घेर कर 'दे दो जो भी कुछ है पास तुम्हारे' ।।
तुरत सचेत वीरबाला ने स्मरण किया दशमेश-चरण का ।
प्रत्युत्पन्न-बुद्धि से भू पर फैंक दिया कंकण कंचन का ।।

ज्यों ही उसे उठाने एक पठान झुका मिथ्याभिमान से ।
झपट सिंहनी ने द्रुत उसका काट दिया सिर निज कृपाण से ।।
स्तब्ध चकित दो और दस्यु भी अभी पूर्ण थे सँभल न पाए ।
चण्डी के घातक प्रहार से पल में वे परलोक सिधाए ।।

चौथा मुगल तीर सा लपका प्रतिहिंसा-ज्वाला में जल कर ।
झट कौशल से गिरा उसे वह युवती चढ़ बैठी छाती पर ।।
चीर दिया उसका वक्षस्थल, उष्ण रक्त की धारा फूटी ।
हरी घास पर हुई सुशोभित बिन पावस ही वीरवधूटी ।।

पहुँच गए इतने में दल के घबराए से सब नर नारी ।
दीपकौर का देख पराक्रम चकित हुए योद्धा बलधारी ।।
स्वयं दशमगुरु ने भी सब वृत्तान्त श्रवण कर बहुत सराहा ।
'पुत्री ! तूने अद्‌भुत बल से वीर 'खालसा' धर्म निबाहा ।।

केवल पुरुष नहीं नारी भी है समाज की सूत्रधारिणी।
गृहलक्ष्मी, देवी सरस्वती, नवदुर्गा कल्याणकारिणी ।।
नारी है वरदान प्रकृति का, परम पुरुष की आदि शक्ति है।
वह राधा का प्रणय, उमा का तप, सीता की अचल भक्ति है।।

नारी को अबला मत समझो, नारी नर से भी महान है।
नर की जटिल समस्याओं का नारी सुंदर समाधान है।।
स्वयं-सिद्ध नारी का जीवन पुरुष-जाति का भार नहीं है।
वह विलास की वस्तु मात्र अन्तःपुर का शृंगार नहीं है।।

शील प्रसाधन है नारी का, लज्जा नारी का अवगुंठन।
सेवा है उसकी मर्यादा, आत्म-त्याग नारी का जीवन ।।"

पंथ 'खालसा' के प्रताप से हर नारी थी बनी भवानी।
सभी सिक्ख बलि को आतुर थे पी पवित्र 'खण्डे' का पानी।।

प्रगतिशील आनन्दपुरी में था साहस का स्रोत मचलता।
गाँव गाँव से अन्न मँगाकर गुरु का 'लंगर' अविचल चलता।।
राजतन्त्र से प्रेरित जो दुर्जन सहयोग नहीं देते थे।
उचित दाम पर गुरु के सैनिक बरबस धान्य छीन लेते थे।।

पूर्व-पराजय से उत्तेजित पर्वतीय राजाओं का दल।
सहन नहीं कर सका 'खालसा' की यह क्रांतिकारिणी हलचल।।

खोज लिए 'अजमेर चन्द' ने भी विग्रह के व्यर्थ बहाने।
चुका दिया था मूल्य भूमि का यद्यपि गुरु के पूज्य पिता ने।।
पत्र भेज सम्राट-चरण में देने लगे नरेश दुहाई।
ले विशाल संयुक्त-वाहिनी गुरु पर कर दी शीघ्र चढ़ाई ।।

गुरुकुल-द्वेषी रांगड़, गूजर भी असंख्य लड़ने को आए।
इधर लोकरक्षक गुरु ने भी दुर्गों पर मोरचे बनाए ।।

माँ के द्वारा हुआ सुसज्जित कुँवर अजीतसिंह मतवाला।
चार सहस्र खालसा-दल का उसने दृढ़ नेतृत्व सँभाला ।।
वय किशोर, तन कुसुम-सुकोमल, निर्मल वज्र-समान हृदय था।
वह क्षत्रिय-वंशावतंस प्रद्युम्न-रूप 'गोविन्द'-तनय था ।।

उस योद्धा ने धू धू करते धुआँधार नाराच चलाए।
पलक झपकते ही गूजर गाजर-मूली से काट गिराए ।।
करने लगा ध्वंस रिपु-गण का कार्तिकेय-सा वह अलबेला।
टूट पड़े ज्यों क्षुद्र मृगों के दल पर भूखा सिंह अकेला ।।

सहसा उसका अश्व गिरा अरि के विषाक्त शर से हो घायल।
पर तुरन्त पैदल ही वह डट गया युद्ध में बन प्रलयानल ।।
लगा कतरने अरिमस्तक दोनों हाथों में खड्ग उठा कर।
घिरा शत्रुओं के दल में परिवेश-मध्य ज्यों पूर्ण सुधाकर ।।

जब अजीत के साथ नृपाधम खेल रहे थे आँखमिचोली।
'साहबसिंह' कुमुक ले पहुँचा अन्धाधुन्ध चलाता गोली ।।

बजी शिंजिनी, बरछे उछले, तोपें घहर घहर गुर्राईं।
विद्युत की द्युति सी तलवारें सर्पों सी नभ में लहराईं ।।
समरांगण में घोड़े दौड़े, उड़ी धूल धरती अम्बर में।
धुआँ उठा बन्दूकों से तो अन्धकार छाया क्षण भर में ।।

एक 'खालसा' बीस बीस अरि-योद्धाओं का काल हो गया।
शोणित से सम्पूर्ण 'चरण गंगा' का सैकत लाल हो गया ।।

'बाघिन' ने ज्वालामुख खोला, हुआ समर में घोर धमाका।
खण्ड खण्ड हो उड़ी गगन में शत्रु-शिविर की राजपताका ।।
गूँज उठी गुरु कलगीधर के जयकारों से दसों दिशाएँ ।
दिन डूबा, डूबी रिपुसेनापतियों की सारी आशाएँ ।।

अति उदास जब राजशिविर में पूर्णतया था मातम छाया।
एक दिवस केसरीचन्द ने उन्हें नवीन उपाय सुझाया ।।

प्रातःकाल महाकालाकृति मदिरोन्मत्त मतंगज भारी ।
लौहवर्म - वेष्टित - वपु-मंथर मस्तक-मंडित-कुंतकटारी ।।
द्विरद भयंकर लिए गिरीश्वर 'लौह दुर्ग' का द्वार तोड़ने ।
समुद चल पड़े कुश-कंटक से 'खण्डामृत' की धार मोड़ने ।।

आज्ञा हुई विचित्रसिंह को 'निज विचित्र विक्रम दिखलाओ।
कर में लेकर 'नागन बरछी' नागराज पर गाज गिराओ ।।'

शुभाशीष गुरु की लेकर वह चढ़ तुरंग पर बाहर आया ।
होकर खड़े रकाबों पर दोनों हाथों से शस्त्र उठाया ।।
पूर्ण शक्ति से कर प्रहार गज के मस्तक में छेद कर दिया ।
भग्न कुम्भ की शोणित धारा से सारा रणक्षेत्र भर दिया ।।

पीड़ा से चीत्कार शब्द कर क्षुब्ध द्विरद पीछे को भागा ।
कुचला गया असंख्य राजदल अनायास ही स्वयं अभागा ।।

उसी समय 'सतसिरि अकाल' से गगन गुंजाते सिंह सयाने ।
किंकर्तव्य-विमूढ़ शत्रु पर टूट पड़े निज आयुध ताने ।।
परकोटे से हुई प्रबल बौछार नुकीले पाषाणों की ।
व्योम ढक दिया नरनाहर 'नाहर' ने वर्षा से बाणों की ।।

दयासिंह ने दयाहीन रिपुओं के छक्के खूब छुड़ाए।
हुआ तुमुल संग्राम 'खालसा' ने दिन में तारे दिखलाए ।।
दिशा दिशा क्रंदन से गूँजी, हुआ रक्त से कण कण गीला।
पहुँचा तभी सैन्य संचित कर क्रुद्ध 'केसरी चंद' हठीला ।।

उदय सिंह ने आगे बढ़कर अभिमानी नृप को ललकारा।
वार बचाकर उस पिशाच का लिया हाथ में तीक्ष्ण दुधारा ।।
एक वार में ही उसने रिपु-मस्तक धड़ से काट गिराया।
फिर भाले की तुंग नोक पर कटा हुआ नृप-सीस चढ़ाया ।।

मित्र-मृत्यु से सब साहस अजमेर चंद का भंग हो गया।
सिख-सेना की देख सफलता वैरी-दल भी दंग हो गया ।।

हुई मंत्रणा राजाओं में अतुल प्राण-धन खो देने पर।
संधि-पत्र का बना मसौदा बीज बैर का बो देने पर ।।
क्षमाशील गुरुवर ने हँस कर दीन शत्रु पर दया दिखाई।
रिपु-रुचि से अवगत होकर भी विश्वमित्र की नीति निभाई ।।

समय समय पर किन्तु राजगण शांति-संधियां रहे तोड़ते।
सच है दूध पिलाने पर भी विषधर विष को नहीं छोड़ते ।।

इसी मध्य दशमेश पिता ने सिक्खों को कर्तव्य सिखाया।
डाल त्याग की ज्वाला में कंचन को कुंदन रूप बनाया ।।
ना ना कठिन परीक्षाओं का अवसर जब भी संमुख आया।
सदा 'खालसा' ने मर्यादा में रह कर निज धर्म निभाया ।।

"युद्ध काल था, सुन्दर बेगम एक पालकी में थी जाती ।
अकस्मात् मिल गए मार्ग में सिंह दुष्ट-मुगलों के घाती ।।
शस्त्र-प्रयोग विना शिविका को वे गुरु सेवा में ले आए ।
किंतु देखते ही आचार्य बहुत बिगड़े खीझे झुंझलाए ।।

'धर्म खालसा का है पर-नारी को माता बहन समझना ।
अनुचित भोगविलास-सुखों के मोहजाल में नहीं उलझना ।।

नारी है अनुवाद प्रेम का, पूर्ण-समर्पण की है भाषा ।
सुंदरता नारी का गुण है, करुणा नारी की परिभाषा ।।
नारी है नर की संस्कृति, जिसने समाज को जन्म दिया है ।
पुरुषसिंह होकर तुम ने क्यों नारी का अपमान किया है ?'

'भगवन् ! हम ने पार नहीं की मर्यादा की लक्ष्मण-रेखा ।
बाह्यावरण हटा शिविका का भीतर नहीं झाँककर देखा ।।

किंतु क्षमा अविनय हो, निर्लज मुसलमान जब अत्याचारी ।
लुब्ध भेड़ियों सदृश झपटते देख कहीं भी हिन्दूनारी ।।
तब क्यों हम पर ही ऐसा प्रतिबंध विशेष लगाया जाता ?
जग में शठ के प्रति शठता का तो व्यवहार न्याय कहलाता ।।'

'दुर्गुण नहीं सदा सद्गुण ही अनुकरणीय हुआ करते हैं ।
पुण्यपंथ के पथिक पाप की छाया नहीं छुआ करते हैं ।।
मुझे अधोमुख नहीं 'पंथ' को सदा ऊर्ध्वमुख ले जाना है ।
गुरुनानक के आदर्शों को स्वयं सिद्ध कर दिखलाना है ।।

सच्चरित्रता मूल धर्म का, संयम जीवन की परिभाषा।
शक्तिशील के गठबंधन पर निर्भर मानवता की आशा।।

संत-सिपाही है कृपाण रखता अबला की लाज बचाने।
मानवता के विश्वकोष से दुराचार का शब्द मिटाने।।
तुम इस आदरणीय बहिन को अभी सुरक्षित घर पहुँचा दो।
वीर 'खालसा' के नैतिक-बल का जग को विश्वास दिला दो।।'

"एक बार कोई ब्राह्मण पहुंचा रोता दुखदावानल से।
छीन ले गया था नवाब जिस की तरुणी रमणी को बल से।।

मांगी सब से ही सहायता उसने घर घर विपत् सुनाई।
पर्वतीय राजाओं के भी द्वार पहुंच कर भरी दुहाई।।
किन्तु पठानों के भय से जब नहीं किसी ने हाथ बढ़ाया।
हो निराश वह सभी ओर से था गुरुचरण-शरण में आया।।

समाचार सुनते ही गुरु के मुख पर खिंची रोष की रेखा।
अर्थ-पूर्ण नयनों से अपने सुत की ओर उन्होंने देखा।।

झट संकेत समझ कर वीर अजीतसिंह ने खड्ग सँभाला।
पौ फटने से पहले ही अपहृत महिला को खोज निकाला।।
बस्सी के पापी नवाब का अहंकार सब चूर कर दिया।
उसकी मुश्कें बांध रोग को सदा के लिये दूर कर दिया।।

बोले फिर गुरुदेव विप्र से 'पत्नी को सादर अपनाओ।
महिला के चरित्र पर अपने मन में कुछ संदेह न लाओ।।
आत्मा है सतीत्व का साक्षी, तन चरित्र का माप नहीं है।
नीच पुरुष के बलात्कार में अबला का कुछ पाप नहीं है'।।"

हुए अनेक मधुर-कटु अनुभव गुरुवर को संघर्ष-काल में।
किन्तु 'खालसा' कभी न उलझा हर्ष-शोक के मोहजाल में।।

"कैसा था संयोग अनोखा सैय्यद बेग मुगलदल-नायक।
श्री दशमेश-शरण में आकर स्वयं बना था परम सहायक।।
जब सशस्त्र मुठभेड़ हुई फिर औरंगज़ेबी सेनाओं से।
लड़ते लड़ते ही शहीद हो गया वीर घातक घावों से।।

एक मुगल-दलपति को गुरु का सैनिक बन मरते जब देखा।
शत्रु-चमूपति सैय्यद खां के मन पर उभरी विस्मय-रेखा।।
संमोहित गुरु के स्वरूप से वह तज द्वेष बना आराधक।
प्रिय बांधव बुधशाह संत का गुरुचरणों में रहा अंत तक।।"

इस प्रकार थे कई विधर्मी बने 'खालसा' के अनुयायी।
पर कुमार्ग को छोड़ न पाए कभी अधम शासक अन्यायी।।

सतत पराजय से हो पीड़ित आलमगीर क्रूर मायावी।
गुरु-विरुद्ध फिर लगा बनाने कटुतर कुटिल योजना भावी।।
रजवाड़ों के आवेदन-पत्रों ने भी उसको उकसाया।
फलतः फिर सूबेदारों को भेज युद्ध का बिगुल बजाया।।

टिड्डीदल सी चढ़ आई जब राजपूत-मुगलों की सेना।
गुरु को होकर विवश शस्त्र से पड़ा शस्त्र से उत्तर देना।।
सारी 'संगत' जुड़ी, हुई 'अरदास', बजा 'रणजीत नगारा।
धर्मयुद्ध में पुनः 'खालसा' ने अन्यायी को ललकारा।।

बहुसंख्यक शाही लश्कर ने किया स्वल्प-संख्यक पर धावा।
पर सिंहों की शक्ति देखकर होने लगा उन्हें पछतावा।।
'विजय घोष'-'बाघिन तोपों ने अपना प्रलयंकर मुँह खोला।
उल्कापात हुआ धरती पर आकर गिरा जहाँ भी गोला।।

यौवन भरी फाग की ऋतु थी, मस्ती में वीरों की टोली।
खेल रहा गोविन्द स्वयं था रिपु के लाल लहू से होली।।
वीरपिता के वीरपुत्र रणधीर 'अजीत' 'जुझार' सलोने।
रणचण्डी के लिये शत्रुमुण्डों की माला लगे पिरोने।।

था 'अजीत' अवतार जीत का, 'हिम्मत' में हिम्मत का सागर।
मंत्रमुग्ध था सारा आलम 'आलम' का सामर्थ्य देखकर।।

स्वप्नमहल अजमेर चन्द के शीघ्र मिल गए धूलिकणों में।
खंड खंड हो गया घमंड घमंडचंद का चंद क्षणों में।।
मीर वज़ीरखान सरहन्दी के चेहरे पर ख़ौफ छा गया।
ज़बरदस्त खां जबर्दस्त सिक्खों से आख़िर हार खा गया।।

जब देखा कुछ और उपाय नहीं है, छाया घोर अन्धेरा।
डाल दिया आनंदपुरी के चारों ओर सुदुस्तर घेरा।।

यातायात रुका, साधन सब रसद-प्राप्ति के बंद हो गए।
धीरे धीरे स्रोत नागरिक जीवन के निस्पंद हो गए।।
खोल दिए सब द्वार अन्न-भंडार भरे गुरु कलगीधर ने।
पर वे भी निःशेष हो गए तनिक न पाई दशा सुधरने।।

क्षुधा-क्षीण कंकाल रह गई हृष्ट-पुष्ट सिंहों की सेना।
पत्तों तक नौबत आ पहुँची मिला नहीं जब चना चबेना।।

कुछ उद्भट भट अवसर पाकर शत्रुशिविर पर घात लगाते।
अस्त्र शस्त्र भी विपुल खाद्य-सामग्री सहित लूट ले आते ।।
पर अस्थायी उपकरणों से हल न हुई कुछ विषम समस्या ।
सहनशक्ति के पार होगई निराहार की कठिन तपस्या ।।

ग्रीष्म तपा, वर्षा रोई, ऋतु शरद गई हेमन्त बुलाने ।
गिरा तुषार, सरोवर सिहरे, जीवन-कमल लगे कुम्हलाने ।।

उन्हीं दिनों में युद्धक्षेत्र में सबने देखा दृश्य निराला ।
पिला रहा था घायल मुगलों को जल एक सिंह मतवाला ।।

साथ ले गये उसे पकड़ कर वे गुरुवर से दंड दिलाने ।
क्या रहस्य है, क्यों जाता है यह विपक्ष पर दया दिखाने ?
हम जिनके प्राणों के प्यासे यह उनके है प्राण बचाता ।
गुरुसेवक होकर इसका है गुरुद्रोहियों से क्या नाता ?

बोला तब कर जोड़ कन्हैया "मेरा कुछ भी दोष नहीं है।
अपने और पराये का सेवा में रहता होश नहीं है ।।

एक ज्योति से सब जग उपजा, सब में प्रभु की ज्योति समाई।
मैंने है जिस ओर निहारा दिया एक ही रूप दिखाई ।।
हिन्दू-तुर्क उसी के बन्दे, एक पिता के हैं सब बालक ।
हस्ती-कीट समान उसे हैं, राव-रंक सबका वह पालक ।।

मैंने है गुरुचरणों से ही विश्वरूप का दर्शन सीखा ।
जहाँ पिलाया जल प्यासे को मुझे वहाँ गुरुमुख ही दीखा ।।"

सुन कर उत्तर गुरु मुस्काए शंकित सिक्खों को समझाया ।
ब्रह्मज्ञान के सूक्ष्म रूप का उनको सारा मर्म बताया ।।
संत कन्हैया का उत्साह बढ़ाया श्री दशमेश पिता ने ।
उसे स्वयं औषध लाकर दी घावों पर अनुलेप लगाने ।।

किंतु नहीं संतुष्ट किया भूखे सिंहों को इस घटना ने ।
न हों पेट में जब दो दाने, नर अध्यात्मवाद क्या जाने !

जिस क्षण सिक्खों के मन में थी करवट लेती घोर निराशा ।
धूर्त शत्रु ने दूत भेजकर कर दी प्रकट संधि-अभिलाषा ।।

शपथ नृपों ने गो माता की, यवनों ने कुरान की खाई ।
केवल दुर्ग छोड़ देने की मांग विनयपूर्वक दुहराई ।।
शांति-संधि में आश्वासन था दिया सर्वथा संरक्षण का ।
पर गुरु को पहले से था कटु अनुभव उनके झूठे प्रण का ।।

जैसे ही प्रस्ताव संधि का गुरु ने अस्वीकार कर दिया ।
प्राण-मोह ने कुछ सिक्खों में तुच्छ अवज्ञाभाव भर दिया ।।

बोला महासिंह—"प्रभुवर अब और असंभव है दुख सहना ।
भोजन-साधनहीन दीन बंदी बन कर यूं जीवित रहना ।।
व्यर्थ आत्महत्या से तो रिपु की शर्तों को मान लीजिए ।
अथवा दुर्ग छोड़ देने की अनुमति हमें प्रदान कीजिए ।।"

गुरु बोले—"कायरता की वाणी मुख से मत कभी निकालो।
मरने से तुम क्यों डरते हो अरे अमृत के पीने वालो !
पराधीन जीने से अच्छा है स्वतंत्रता हित मर जाना।
शोभा देता नहीं वीर पुरुषों को कष्टों से घबराना।।

निःसन्देह कष्ट है दुःसह आज कठिन है धैर्य-परीक्षा।
किंतु तनिक उत्साह न छोड़ो अभी करो कुछ और प्रतीक्षा।।

संतसिपाही का जीवन है कांटों की शय्या पर सोना।
सुख की चाह न करना मन से दुख में कभी अधीर न होना।।
कष्ट कसौटी है जीवन की, कष्ट वीरता का भूषण है।
मान-दंड है धैर्यशक्ति का, लक्ष्य-सिद्धि का शुभ लक्षण है।।

कठिन परीक्षा में ही साहस का सच्चा प्रमाण मिलता है।
सुंदर अमलतास पौरुष का तीव्र धूप में ही खिलता है।।
तेजस्वी जीवन अभाव के घोर शून्य से नहीं ऊबता।
मानस का संतुलन वेदना के सागर में नहीं डूबता।।

सुख-दुख दोनों क्षणभंगुर हैं धूप-छांव से नित्य बदलते।
दुख के दुर्गम पर्वत से हैं सुख के झरने फूट निकलते।।

सहज दुःख से घबरा जाना मानवमन की है दुर्बलता।
सदा कँटीले पथ की बांहों में बंध जाती स्वयं सफलता।।
कष्ट देखकर मन मत हारो, कटु औषध गुणकारी होगी।
हरि-इच्छा पर रखो भरोसा अंतिम विजय तुम्हारी होगी।।

इतने पर भी गुरु-नगरी में सिक्ख नहीं जो रहना चाहें।
जा सकते हैं त्याग-पत्र लिख, स्वयं खोज लें अपनी राहें।।"

सुन गुरु का उद्बोधन सिक्खों में संस्कार सुप्त कुछ जागे।
किंतु अनेक असहमत भी थे, छोड़ गए जो साथ अभागे ।।

गुरु अस्थिर हो उठे देखकर प्रिय शिष्यों की दीन अवस्था।
था दबाव बढ़ रहा शत्रु का, कठिन हुई थी दुर्ग-व्यवस्था ।।
रखकर चिर उपवास भूख से प्रिय सहचर दम तोड़ रहे थे।
हाय, पंथ के सेवक भी अब साथ कष्ट में छोड़ रहे थे ।।

मुख पर कुछ अवसाद घिरा, मन पर भी खिची खेद की रेखा।
घर में भी बुढ़िया मां के जर्जर शरीर को गुरु ने देखा ।।

रूप कृशांगी पत्नी का था विमल सरोवर पर ज्यों काई।
या नवयौवन के मधुवन में अकस्मात् पतझर हो छाई ।।
ममता की गोदी में दो सुकुमार सिंह शावक थे सोए।
उन सूखे फूलों की छवि ने पत्थर के भी नेत्र भिगोए ।।

किंतु सिंहनी बोली "नाथ, हमारी चिंता नहीं कीजिये।
हम प्रसन्न हैं, हमें 'वाहगुरु' के प्रसाद पर छोड़ दीजिये ।।
जब मैं सहधर्मिणी बनी हूँ सुख-दुख दोनों ही बाँटूंगी।
आप शत्रु का सिर काटें, मैं पथ की हर बाधा काटूंगी ।।"

पत्नी का दृढ़ धैर्य देखकर गुरु में नई प्रेरणा जागी।
अभिनव आशा के प्रकाश से भयदायक विभावरी भागी ।।

निश्चय किया, "रहें बाधाएँ पर सत्याग्रह मंद न होगा।
कुछ भी हो परिणाम, 'खालसा' का आन्दोलन बंद न होगा।।
चिन्ता नहीं अकेला मैं अन्याय-विरुद्ध युद्ध ठानूंगा।
भले-धर्म पर मर मिट जाऊं लेकिन हार नहीं मानूंगा।।"

बचे खुचे सिक्खों को लेकर गुरु ने गुरुसंघर्ष चलाया।
घोर मृत्यु के भय से अरि के आगे मास्तक नहीं झुकाया।।

चला गया था दक्षिण से उकता कर सूर्य उत्तरायण को।
किंतु नहीं त्यागा था गुरु गोविन्द सिह् ने अपने प्रण को।।
सात मास तक घेरा डाले हठी शत्रु भी तंग आ गया।
सिक्खों का बल धीरज सुन सम्राट स्वयं था सकपका गया।।

निजी पत्र औरंगज़ेब का लेकर संधिदूत फिर आया।
शपथ कुरान पाक की खाकर गुरु को था विश्वास दिलाया।।
उसमें किया गया था सबकी पूर्ण प्राण-रक्षा का दृढ़ प्रण।
दुर्ग त्याग सम्राटसंग मिलने का भी था प्रेम-निमंत्रण।।

पत्र पहुँचते ही गंभीर विचार हुआ सारी 'संगत' में।
प्रायः गुरु के विना सभी थे शान्ति-संधि करने के मत में।।

सबका था निष्कर्ष कि अवसर खो देना नादानी होगी।
पंचों का निर्णय ठुकराना गुरुवर की मनमानी होगी।।
माता गुजरी ने भी सार्वजनिक हित का था प्रश्न उठाया।
राजनीति का आश्रय लेकर सुत को आपद्धर्म बताया।।

गुरु ने देखा—दुर्ग-त्याग के निश्चय पर सब अड़े हुए हैं।
मन-मृग मरुस्थली में जल के मिथ्याभ्रम में पड़े हुए हैं।।
जान लिया भविष्य-द्रष्टा ने, अब तो भावी टल न सकेगी।
नाविक कितना ज़ोर लगा ले, नाव रेत पर चल न सकेगी।।

गुरु ने होकर विवश अंत में 'गुरु-मत' को स्वीकार कर लिया।
जानबूझ कर भावी संकट का अपने सिर भार धर लिया।।

सप्तम सर्ग

वर दो कि शिवा ! मैं विजय करूँ, शुभ कर्मों से न कदापि डरूँ ।
जब आयु की अवधि निदान बने, निर्भय हो रण में जूझ मरूँ ।।

आहुति

मुगलों के महामलिन मन सा छाया था गहरा अन्धकार ।
सर्वत्र शून्य से बरस रहा अविरल कज्जल-जल धुआँधार ।।
प्रस्फुटित पौष की निशीथिनी भीषण थी काली व्याली सी ।
सुत-हत्या से आक्रोशमयी वेणी खोले पांचाली सी ।।

कृष्णाभिसारिका सी कलुषित विधु-वदन छिपाए घूँघट में ।
साधना-निरत हो निर्वसना ज्यों काल भैरवी मरघट में ।।
या खान कोयले की फटने से छाई हो धूमिल बदली ।
शबरी तमालतरु-कानन में कृष्णाजिन पहने हो निकली ।।

विधवा के अंध भविष्य सदृश वह शीत मृत्यु की कारा सी ।
दुर्दैवलेख की लिपि समान थी कालकूट की धारा सी ।।

कुलटा जैसी दिग्वधुओं के मुख पर थी पुती हुई स्याही ।
उल्लूक-दृष्टि थी भटक रही ज्यों मन की पीड़ा अनब्याही ।।
गुरुतम-तमतोम तमिस्रा का भीगा था हिम-कणिकाओं में ।
ठिठुरे तरु-पल्लव काँप रहे शोणित जम रहा शिराओं में ।।

बज रहे रहस्य भरे स्वर में घुँघरू झींगुर मतवालों के ।
गूंजे अप्रिय समवेत गान श्वानों के और श्रृगालों के ।।

नभतल में झंझा का प्रकोप सागर सा कर कल्लोल रहा ।
निर्बाध वारुणी सेवन कर विक्षिप्त प्रभंजन डोल रहा ।।
था धूलिधूसरित निर्जन पथ फैला वृत्रासुर के शव सा ।
अंबर पर एक सितारा था लघु अंकविहीन दशमलव सा ।।

झर रहे माँग के मुक्ता थे जब विभावरी के कुन्तल से ।
हँस रही नियति थी विद्युत बन घनघोर क्षितिज के अंचल से ।।

आनन्दपुरी को विवश त्याग आनन्दकन्द गोविन्द वीर ।
ले साथ परिच्छद-परिजन सब निकले रिपुदल का व्यूह चीर ।।

भूखा प्यासा आश्रयविहीन था विस्थापित सिक्खों का दल ।
अज्ञात अनन्त विषम-पथ में था एक 'वाहगुरु' का संबल ।।
रणवीर स्वयं विधि के हाथों निज धाम धरा धन छोड़ चले ।
उपवन में कैसी ऋतु आई खग नीड़ों से मुँह मोड़ चले ।।

हा, देशभक्ति को पुरस्कार में संकट की सौगात मिली ।
सोने का सूर्य लुटा करके संध्या को काली रात मिली ।।

कर जन्मभूमि को नमस्कार यूँ चल दी टोली रात ढले ।
ज्यों 'पीहर' से अवसादपूर्ण नववधू अजाने देस चले ।।

जिसकी ममतामय माटी में तुतलाता शैशव खेला था ।
महके सपनों के साथ जहाँ बीता यौवन अलबेला था ।।
मुस्काती थी स्वर्णिम खेती, 'भँगड़े' के उत्सव होते थे ।
चर्खे पर गीत मचलते थे, कर-कंकण दही बिलोते थे ।।

उतरी थी गुरु के द्वार जहाँ 'सुन्दरी' सुहागिन डोली से ।
सूना घर आँगन चहका था कोयल की मीठी बोली से ।।
थे जले स्नेह के दीप जहाँ मन की हर बाधा टूटी थी ।
उमड़ी थी भावों की यमुना, निर्झर सी कविता फूटी थी ।।

जिसके नभचुंबी दुर्ग खड़े सिंहों के गौरव के प्रतीक।
धार्मिक 'दीवान' सदा सुनते गुरुचरणकमल के चंचरीक।।

गुरु तेग बहादुर के मस्तक की पुण्यचिता की राख जहाँ।
राष्ट्रीय-क्रान्ति का स्वप्न लिए आया था शुभ 'वैशाख' जहाँ।।
सतलुज के संन्यासी तट पर नवयुग ने अँगड़ाई ली थी।
सम्पूर्ण 'पंथ' ने प्रथमबार 'खण्डे' की जहाँ 'सुधा' पी थी।।

इतिहास लिखा था जहाँ नया अपने शोणित से वीरों ने।
संस्कृति की लज्जा ढकी 'खालसा' की नंगी शमशीरों ने।।

वे देश धर्म के दृढ़ प्रहरी, निज घर से निर्वासित होकर।
तृण से वातुल में घूम रहे अँधियारे पथ पर खा ठोकर।।
हड़कंपी शिशिर-पवन डसता हिम-स्नान कराता था तुषार।
ठिठुरे शिशु, वनिता, वृद्ध सभी के दाँत बज रहे बारबार।।

वृद्धा गुरुजननी दो नन्हे पोतों को उर से चिपटाकर।
सर्दी से सिकुड़े अंगों को थपथपा रही थी दुलरा कर।।
हिमपात-विदलित कुमुदिनी सी बैठी थी रथ में गुरु-जाया।
मन प्राणेश्वर-चिन्ता-विलीन कदलीदल सी कंपित-काया।।

झक्खड़ के झोंके झेल रहे क्षुत्क्षाम स्वयं दशमेश-पिता।
मार्मिक थी मनोदशा उनकी ज्यों पूर्ण करुण रस की कविता।।
सुकुमार 'अजीत' 'जुझारसिंह' थे घोड़ों पर दोनों भाई।
सुन्दर गुलाब सी छवि जिनकी खिलकर असमय थी कुम्हलाई।।

यह हृदय-विदारक दृश्य देख रजनी की आँखें भर आईं।
अटवी ने ठण्डी आह भरी पद्मिनियाँ जल में मुरझाईं।।

घायल सन्नाटा चीख उठा, ऊँघते जलाशय चौंक पड़े।
दुर्बल दूर्वा के अश्रु झरे, पर्वत पसीज कर मौन खड़े॥
करुणामय प्रकृति-हृदय ने था भावी विपदा को भाँप लिया।
अंबर के चाँद सितारों ने था पहले से मुख ढाँप लिया॥

चलते चलते बीहड़ बन में जब ब्राह्ममुहूर्त निकट आया।
झट नित्य-कर्म की सुधि जागी, गुरु-सेवक मन में हर्षाया॥

लेकिन भावुक अन्तर्मन में प्रकटी सहसा भारी दुविधा।
था संमुख 'सरसा'-सरितातट, थी पार पहुँचने की सुविधा॥
अरि की आशंका डरा रही, हरि की लिप्सा मन लुभा रही।
थी तर्क-वितर्कों की लहरों में बुद्धि-नाव डगमगा रही॥

सिक्खों का अन्तर्द्वन्द्व जान अन्तर्यामी कलगीधर ने।
आदेश दिया, दलबल तुरन्त रुक गया नाम-कीर्तन करने॥

'आसा' की स्वर-लहरी गूँजी, गुरुवाणी का मधुगान हुआ।
निर्भय हरि का दर्शन होते अरि का भय अन्तर्धान हुआ॥
निर्मुक्त 'अमृतरस' के झरने फूटे आतुर उर-अंतर में।
सब वर्तमान को भूल गए सत्गुरुप्रसाद से क्षण भर में॥

खुलगया आंतरिक 'दशमद्वार' झट 'अनहद' की झंकार हुई।
जब सूक्ष्म 'सुरति' का तार मिला कणकण से मूक पुकार हुई॥

"हे महाकाल के काल प्रभो,
हे प्रलयभानु की ज्वाल प्रभो !
हरिजन-रक्षक अरिजन-भक्षक,
संकट काटो तत्काल प्रभो !

कर दे कर जिसे बचाओ तुम,
रिपु बाल न बाँका कर पाए।
दान्तों के मध्य रहे जिह्वा
लेकिन कुछ आँच नहीं आए॥

सब द्वार छोड़ तव-द्वार पड़े,
अब तुम ही एक सहारा हो।
भव-सागर की मँझधारों में
तुम नाविक, नाव, किनारा हो॥

इतना वर दे दो, तेग पकड़,
हम सब दुष्टों का नाश करें,
हर लें अधर्म का अन्धकार,
जग भर में धर्म-प्रकाश करें॥''

'अरदास' पूर्ण होते होते सहसा पीछे से शोर हुआ।
गौ औ, कुरान की शपथों का पल भर में भंडाफोड़ हुआ॥

सामान्य राजनैतिक नैतिक सारी मर्यादा भंग किए।
दिल्लीश्वर का हर संधि-वचन अपना हर वादा भंग किए॥
आरहा बढ़ा शाही लश्कर था गुरुवर का पीछा करता।
चालाक शिकारी कुत्तों सा पथ सूँघ सूँघ कर पग धरता॥

होगया स्पष्ट अब दुर्ग-त्याग का लालच एक बहाना था।
असुरक्षित गुरु का घात, शत्रु का मात्र अचूक निशाना था॥

रणधीर वीर गुरु ने सबको पलभर में स्थिति सब समझाई।
आपत्कालीन क्षणों में भी अद्‌भुत तत्परता दिखलाई॥
सब बालवृद्ध-प्रमदाजन की रक्षा का उचित प्रबन्ध किया।
फिर यथाशीघ्र ही नदी पार कर लेने का आदेश दिया॥

अनुरोध किया सविनय अजीत ने-"आप स्वयं प्रस्थान करें।
अवसर पाकर विच्छिन्न 'खालसा' दल का फिर निर्माण करें ।।
मैं यहाँ प्राण रहते रिपु की सर्वतः राह को रोकूँगा ।
रज होकर भी गिरिराज-सदृश सागर-प्रवाह को रोकूँगा ।।"

मुस्का कर गुरु कलगीधर ने प्रिय आत्मज को अनुमति देदी ।
इतने में दसों दिशाओं में गूँजा रणघोष गगन-भेदी ।।
पर्वत-पति मुगल-चमूपतिगण ने आकर धावा बोल दिया ।
हरिभक्ति-शांतरस-धारा में विद्वेष-विषमविष घोल दिया ।।

चुपके से धूर्त शृगालों ने जब सिंहों पर घेरा डाला ।
क्रोधांध कृपाणें लहर उठीं बह चला रक्त का परनाला ।।
बरछी बरछी से टकराई भिड़ गई कटार कटारों से ।
प्रलयंकर युद्ध लगा होने बन्दूक तीर तलवारों से ।।

भुजदण्डों में भाले उछले, कोदण्डों से शर छूट पड़े ।
कुछ लोहे के डण्डे लेकर मानुष-मुण्डों पर टूट पड़े ।।
'मारो काटो' का शोर हुआ, इस ओर हुआ उस ओर हुआ ।
अरि के मस्तक को काट काट हर योधा समर-विभोर हुआ ।।

आ पहुँचा तभी सहायक बन झट उदयसिंह भी मतवाला ।
सिक्खों का साहस उमड़ पड़ा फिर धधक उठी रण की ज्वाला ।।
अप्रत्याशित संहार देख मुगलों में हाहाकार मचा ।
चिल्लाये हाय हाय, तोबा, 'अल्लाह, हमारी जान बचा' ।।

क्षण में रणजीत अजीतसिंह ने वैरी का मुँह मोड़ दिया।
मुट्ठी पर सिक्खों को लेकर रिपु का घमंड सब तोड़ दिया।।

सहसा विपक्षवाहिनी-विपुलसागर में भीषण ज्वार उठा।
अगणित अश्वारोही दल भी कर अभिनव तीव्र प्रहार उठा।।
अंगार उगलती उग्र गोलियों ने गुरुदल को भून दिया।
सिंहों ने भी छाती ताने बढ़ चढ़ कर अपना खून दिया।।

मुठभेड़ हुई असमानों की, लाशों के ढेर लगे पल में।
सूखे पत्तों की तरह सिक्ख सब जलने लगे दवानल में।।

गुरुभक्तों ने रण का अन्तिम परिणाम सुनिश्चित जब देखा।
तब उदयसिंह के मस्तक पर उभरी कुछ चिंता की रेखा।।
अविलम्ब विचार किया उसने बहुविध अजीत को समझाया।
सूचना-हेतु गुरुनिकट चले जाने को आखिर मनवाया।।

बोला "हम संतसिपाही सब अरि के समक्ष डट जाएँगे।
दशमेश-चरण का ध्यान धरे हँसते हँसते कट जाएँगे।।
जब तलक रहेगी एक बूँद भी उष्ण रक्त की इस तन में।
निर्लज्ज शत्रु को तिलभर भी बढ़ने न कभी देंगे रण में।।

प्रभु से कहना कि यथासंभव द्रुतगति से दूर चले जाएँ।
हम दीन अनुचरों को केवल गुरु-सेवा का वर दे जाएँ।।"

अनिवार्य मरण का वरण किए सिक्खों की बलिदानी टोली।
उल्लासपूर्ण खेलने लगी अरिवीर-रुधिरजल से होली।।

यूँ बड़ी देर संग्राम चला फिर तुमुल घात प्रतिघात हुआ।
ले रक्त शहीदों का नभ में था शोभित अरुण प्रभात हुआ॥
साँवली निशा की नागिन भी कुहरे का केंचुल छोड़ चली।
खंडिता नायिका सी कुपिता तब ताम्रमुखी ऊषा निकली॥

नीहार, घना था लटक रहा वीरुध-विटपों की डाली से।
बुन रहा हृदय था मोह-वसन मानो संशय की जाली से॥

सुरसा सी 'सरसा' बरसाती-सरिता विशाल मुख थी खोले।
था शोर बाढ़ का लहरों में, तांडव में ज्यों डमरू बोले॥
उसकी नरभक्षी कोटि कोटि अहि सी लोलुप जिह्वाओं में।
सैकड़ों सिक्ख थे समा गए तट पाने की आशाओं में॥

'विद्याधर' जैसा महाग्रंथ गुरुप्रिय कवियों का तुलसी-दल।
वर्षों की अथक साधना का फल लील गया था सरसा-जल॥
जल-प्लावन में गुरुवाणी-युत अधिकांश काव्य था नष्ट हुआ।
कवि कलाकार गोविंद-हृदय को सुनकर दुःसह कष्ट हुआ॥

पर अभी नहीं था अंत हुआ दुःखांत विचित्र-नाटिका का।
पतझर से परिचय शुरू हुआ था गुरु की हृदय-वाटिका का॥

दिन होते पुत्र अजीत मिला तो बिछुड़ गई वृद्धा माता।
थे साथ दुधमुँहे पोते भी, दुर्दैव खड़ा था मुस्काता॥
पत्नी दिल्ली की ओर गई, गुरुदेव 'स्वयं' 'चमकोर' गए।
चालीस शिष्य कुल साथ बचे थे शेष प्राण तक छोड़ गए॥

जाने रहस्यमय नियति-गर्भ में कितने अभी अमंगल थे।
बिजलियां निरन्तर कड़क रहीं, घिर रहे प्रलय के बादल थे॥

दिन भर अरि से लड़ते भिड़ते गुरु ने न कहीं विश्राम किया।
कच्ची सी ऊँची 'गढ़ी' देख उस में था डेरा डाल दिया ।।
शाही लश्कर के आने से पहले ही मोर्चे बना लिए ।
मिट्टी की जीर्ण हवेली की रक्षाहित सब निर्देश दिये ।।

सायंकालीन प्रार्थना में 'रहिरास' पाठ का 'भोग' पड़ा ।
दशमेश पिता ने 'संगत' में उपदेश दिया उत्साह भरा ।।

"है ज्ञात मुझे, मेरे समान
तुम भी हो दुख के बनजारे ।
कितने दिन से भूखे प्यासे,
अनसोए और थके हारे ।।

पर जो प्रतिकूल परिस्थितियों से घबराए, वह वीर नहीं ।
काँटों की कुटिल शरारत से रुक सकता कभी समीर नहीं ।।

है गगन-दमामा बजा सुनो,
फिर है निशान पर चोट पड़ी ।
अब रण में स्वयं जूझने की,
आ पहुँची है अनमोल घड़ी ।।

जय और पराजय की चिन्ता करना योद्धा का काम नहीं ।
अनुरक्त पतंगे दीपक के सोचा करते परिणाम नहीं ।।

सूली की सेज बिछी सम्मुख,
उस पर सहर्ष सोना होगा ।
है अगर मुक्ति-फल की इच्छा,
तो रक्त-बीज बोना होगा ।।

वह काल-पुरुष सब का रक्षक, जग का कर्ता भर्ता हर्ता ।
जो श्री चरणों का स्पर्श करे, वह नर फिर देह नहीं धरता ।।

यह प्रेम गली है वीर जहाँ
सिर धरे हाथ पर आते हैं ।
जीवन की सुन्दर भेंट चढ़ा
प्रियतम को सहज रिझाते हैं ।।

प्राणों से कभी न मोह रखो सप्रेम मरण स्वीकार करो ।
मरकर ही अमर बनोगे तुम 'सतसिरि अकाल' से प्यार करो ।।"

प्रण किया सभी ने—"धर्मयुद्ध करके जीवन को सफल करें ।
मरना निश्चित जब एक बार तो क्यों न शत्रु को मार मरें ।।
है प्रश्न महान प्रतिष्ठा का हम डालेंगे हथियार नहीं ।
इस अन्तिम अग्नि परीक्षा में भय से मानेंगे हार नहीं ।।"

हेमंत-शर्वरी थी, शरीर में शूल समीर चुभोता था ।
चिन्तातुर मानव जाग रहा निश्चिन्त भाग्य पर सोता था ।।

गुरु श्रांत-क्लांत भी शांत-चित्त बैठे थे तुंग अटारी पर ।
प्रायः था ध्यान चला जाता बुढ़िया माँ की लाचारी पर ।।

कैसी विडम्बना थी विधि की, कैसी थी ईश्वर की माया ।
आनन्दपुरी के स्वामी को दुख देकर दर दर भटकाया ।।
छायानुवर्तिनी रिपुसेना, सन्तत दुर्घटनाओं का क्रम ।
गुरु का जीवन था बना हुआ विपदाओं का अद्भुत संगम ।।

था पंथ-प्रचार लक्ष्य जिसका, जनसेवा जिसका कर्म सदा ।
हरिसिमरन जिसकी दिनचर्या, मानवता जिसका धर्म सदा ।।
निश्छल निर्वैर सन्तजन से हा हन्त ! अकारण वैरभाव ।
असहाय अकेले के पीछे लाखों की सेना का जमाव ।।

अपने आदर्शों का पालन करना तो कोई दोष न था ।
पर सूरज को निर्वासित कर अँधियारे को सन्तोष न था ।।

जब हुई अमृत-वेला, गुरुवर प्रभुभक्ति-प्रभावाधीन हुए ।
जप, नाम-ध्यान, हरिकीर्तिगान के साथ प्रार्थनालीन हुए ।।

"हे सर्वलोह, हे असिधारी,
हे सर्वकाल प्रलयंकारी ।
सेवक की रक्षा करो सदा
सम्पूर्ण दुष्टदल-संहारी ।।

मैं सिद्धि ऋद्धि ले कहाँ रखूं ?
चाहिये भक्ति का भाव मुझे ।
कुछ और वासना नहीं प्रभो !
है धर्म-युद्ध का चाव मुझे ।।

वर दे कि शिवा ! मैं विजय करूं,
शुभकर्मों से न कदापि डरूँ ।
जब आयु की अवधि निदान बने
निर्भय हो रण में जूझ मरूँ ।।"

मन में अटूट संकल्प किए दशमेश हो गए सावधान ।
भीषण विनाश की छाया में देखने क्रूर विधि का विधान ।।

पौ फटी, धुन्ध भी छँटी और आवरण हटा मैला मैला।
मुगलों का स्कंधावार सिन्धु सा दूर क्षितिज तक था फैला॥

सरहिन्द और लाहौर सहित दिल्ली ने भेजी सेनाएँ।
गिरिपति रांगड़ गूजर आए, आईं सब की सब विपदाएँ॥
संयुक्त-वाहिनी की असीम संख्या के सम्मुख गुरु का दल।
स्वर्गंगा की धारा में हो ज्यों पृथ्वी का चुल्लू भर जल॥

यह था विचित्र संग्राम कभी देखा न सुना था कानों से।
थे लड़े सिर्फ़ चालीस सिक्ख चालीस हज़ार पठानों से॥

आरम्भ हुआ संग्राम, यवन-टुकड़ी बन्दूकें तान बढ़ी।
थी देख रही अरिगतिविधि को चुपचाप खड़ी निर्भीक गढ़ी॥
रिपु ने सहसा ही निकट पहुँच जब गोली की वर्षा कर दी।
झट सावधान सिक्खों ने भी रणकानन में ज्वाला भर दी॥

विध्वस्त हुई पहली टुकड़ी तो तुरत दूसरी बढ़ आई।
बाणों की बाढ़ चली ऐसी वह भी होगयी धराशायी॥
मूर्च्छित हो गिरे नृपति दुर्बल, था 'खिजरखान' हैरान हुआ।
'गैरत' बेगैरत घबराया, 'नाहर' भी स्यार समान हुआ॥

सत्वर प्रतिहिंसक रिपुगण ने मिल कर दारुण हल्ला बोला।
बज उठे नगाड़े ढोल सभी, नभ काँपा भूमण्डल डोला॥
कोदण्डों की टंकार हुई, खर तीरों की फुंकार हुई।
गोली की यूँ भरमार हुई साक्षात् प्रलय साकार हुई॥

सेनापति 'ख़्वाजा' संग सभी सरदार द्वार की ओर बढ़े।
ज्यों काली आँधी उमड़ पड़े, ज्यों सरिता में सैलाब चढ़े ।।

गुरु ने पिनाक पर हाथ रखा, सब सिंह क्रोध से उबल पड़े।
गढ़ के बाहर बारी बारी वीरों के जत्थे निकल पड़े ।।
लोहा लोहे से टकराया, चम चम कर चमकी चिनगारी।
भादों की गहन निशा में ज्यों फूटे जुगनू की फुलवारी ।।

थे सिंह हाथ में ढाल लिये, काली जैसी करवाल लिए।
मन में ज्वाला विकराल लिए, मुख पर 'सत सिरी अकाल' लिए।।
सब रक्तस्नात होकर भी थे लड़ते भिड़ते बढ़ते जाते।
नभमण्डल में मार्तण्ड-सदृश अरिमण्डल पर चढ़ते जाते ।।

यह 'हिम्मत' की ही हिम्मत थी सौ मुगलों से संग्राम किया।
'साहब' ने घोंपी सैफ़, ख़ान-साहिब का काम तमाम किया ।।

उत्तुंग गढ़ी के छिद्रों से गुरु ने अंगारे वरसाए।
विशिखों के विषम बबंडर ने नीलांबर में घन छितराए ।।
सोपान लगाकर चढ़ते थे, मस्तक कट कर गिर पड़ते थे।
गुरु का रणकौशल देख देख वैरी सब कान पकड़ते थे ।।

रणभू में कट कट अंग गिरे अक्षत बिखरे ज्यों थाली में।
शर में अरिमुण्ड पिरोए थे आँवले लगे ज्यों डाली में ।।

तब एकाएक घुमड़ आई घनश्याम घोरतर मुगल-घटा।
दलसहित गढ़ी पर चढ़ने को नाहरख़ाँ नाहर सा झपटा।।
अविलम्ब कुशल धन्वी गुरु ने नाराच खींच कर यूँ मारा।
बल खाकर 'नाहरख़ान' गिरा छूटा शोणित का फ़व्वारा ।।

घायल तूफ़ान समान तभी 'गैरत खाँ' ने भी वार किया।
पर गुरुवर के इषु-विषधर ने उसको भी भू पर सुला दिया ।।
बच गया किंतु कायर 'ख़्वाजा' दीवार-ओट में लुक छिपकर।
गुरु के निराश शर के उर में अरमान रह गया जीवन भर ।।

थे शेष रह गए बीस सिंह पर हार न अब तक मानी थी।
जादू की गढ़ी देख रिपु को हो रही बड़ी हैरानी थी ।।

दो पहर हो चुकी थी लड़ते था अभी अखंड प्रचंड समर।
स्वामी से बोला सानुरोध करबद्ध विनीत अजीत कुँवर ।।

"गुरुदेव, मुझे भी आज्ञा दें अब धर्मयुद्ध में जाने की।
'खालसा पंथ' की रक्षा में निष्किंचन प्राण लुटाने की ।।
माता का दूध पिता का ऋण दोनों का मूल्य चुका दूँगा।
निज जन्मभूमि की सेवाहित मैं मर कर पुर्जन्म लूँगा ।।"

बोले दशमेश पिता—"जाओ, क्षत्रियसुत हो संग्राम करो।
बलिदानी परंपरा में तुम गुरुकुल का उज्ज्वल नाम करो ।।
तन भले भस्म हो जाय मगर मन का बुझने अंगार न दो।
दादा का उदाहरण साक्षी—'सिर दे दो लेकिन सार न दो' ।।"

सुत बोला—"मां की शपथ मुझे, पीछे मुँह कभी न मोड़ूँगा।
पुर्जा पुर्जा भी कट जाए, तो भी मैं खेत न छोड़ूँगा ।।
है नाम अजीत सिंह मेरा, मैं कभी न जीता जाऊँगा।
यदि जीत न पाया वैरी को तो जीता लौट न आऊँगा ।।"

कलगीधर की ले चरणधूलि फिर 'फतह वाहगुरु की' बोली।
चल दी अजीत के साथ युद्ध-प्रेमी मस्तानों की टोली ।।

गीता के अध्यायों जैसे उत्कृष्ट आयु के वर्ष लिए।
बाहर निकला केसरि-कुमार मरजीवों का आदर्श लिए ।।

गुरुपुत्र गरुड़ सा कूद पड़ा निर्दयी द्विजिह्वों के दल में।
अनवरत रुधिर की नदी चली, खलबली मची खल-दलबल में।।
वह रुद्र पिनाकी सा योद्धा द्रुत राज-शिविर पर चढ़ आया।
उसकी अजस्र शरवर्षा से दिन में था अँधियारा छाया ।।

हर सिंह अकेला सवालाख सा समरभूमि में जूझ रहा।
आक्रमण गढ़ी से जारी था कुछ मार्ग न रिपु को सूझ रहा ।।

ऊपर से शर बौछार हुई, नीचे असि की झंकार हुई।
बघनखे घुसे अन्तड़ियों में, बरछी छाती से पार हुई ।।
असि-बाघिन शोणित चाट रही, यमपुर के खोल कपाट रही।
सिर कुटिल कटारी काट रही, रणभू लाशों से पाट रही।।

वह देखो नील निशान गिरा, वह घुड़सवार बलवान गिरा।
गज पर आरूढ़ पठान गिरा, भाला भी भू पर आन गिरा ।।

रिपुदल था संख्यातीत उधर, अलबेला एक अजीत इधर।
फिर भी था वह भयभीत उधर, था धर्म इधर, थी जीत इधर।।
विक्रांत वीर ने क्षण भर में दी रिपु-पर्वत-प्राचीर चीर।
खर कुंत ले लिया कर में जब चुक गए सभी तूणीर-तीर ।।

पर तृषित निशित नेजा टूटा दृढ़ शत्रु-कवच से टकरा कर।
फिर कुटिल कटारी भी खोई, घन-मध्य तड़ित सी लहरा कर।।

जब शस्त्र-विहीन हुआ अजीत अनगणित भेड़िये टूट पड़े ।
उसके विक्षत तन पर युगपत् फिर शत शत भाले छूट पड़े ।।

गुरु ने जब दिल के टुकड़े को टुकड़े टुकड़े होते देखा ।
कुछ आह न की, परवाह न की, मुख पर न खिची दुख की रेखा ।।
कैसी चिन्ता कैसा विषाद यह तो था सतगुरु का प्रसाद ।
हो निर्विकार, दृग मूँद किया गुरु ने 'अकाल' का धन्यवाद ।।

"हे अनल-वक्त्र, शशिसूर्य-नेत्र,
हे विश्वरूप, हे विभु, विराट ।
हे रुद्ररूप, हे प्रलयंकर,
ज्योतिस्वरूप, अम्बर-ललाट ।।

तेरा रहस्य तू ही जाने,
अनुचर अबोध मैं क्या जानूँ ?
हूँ तेरी इच्छा के अधीन,
शुभ और अशुभ क्या पहचानूँ ?

है नाव भँवर में, क्या चिन्ता,
जब तू ही खेवनहारा है ।
जग की हर घटना में रहता
तेरा ही गुप्त इशारा है ।।

मैं सदा पंथ की रक्षा-हित
तन मन धन भेंट चढ़ा दूँगा ।
यह एक पुत्र ही क्या अपना
जीवन सर्वस्व लुटा दूँगा ।।"

कर विनति दशमगुरु ध्यान-मग्न यूँ बैठे रहे मौन होकर ।
जैसे उत्ताल तरंगों में हो शांत द्वीप का शैल-शिखर ।।

आंखें खोलीं तो प्रिय 'जुझार' के मुख पर वही कहानी थी ।
अग्रज के पदचिह्नों पर ही चलने की उसने ठानी थी ।।

वह चांद चौधवीं का सुंदर, यौवन का मुकुलित पुष्प कमल ।
था बादलदल सा अलवेला, माधव-प्रभात सा सौम्य सरल ।।
कोमल किशोर ने हठ करके जब युद्धक्षेत्र का नाम लिया ।
करुणा को भी करुणा आई सिंहों ने भी दिल थाम लिया ।।

सस्नेह पिता ने आत्मज को अपनी छाती से लिपटाया ।
थपकी दी फिर मस्तक चूमा, दे शस्त्र कवच भी पहनाया ।।
हाथों से विदा किया गुरु ने अपनी आँखों के तारे को ।
अज्ञातवास में दुखियारी माता के राजदुलारे को ।।

जल पीने को था शिशु का मन, पर चढ़ आई थी रिपुसेना ।
बोले गुरु—'वत्स ! चलो रण में शोणित से प्यास बुझा लेना ।।'

गोविन्द-तनय रण में पहुँचा दुर्योधन के सुत जाग गए ।
जब क्रुद्ध सिंहशावक देखा, भयभीत शशक से भाग गए ।।

वह सर्‌सर् शर बरसाता था, वह बढ़ बढ़ खड्‌ग चलाता था ।
रणशूरों को शरमाता था, चण्डी को रक्त पिलाता था ।।
पर चक्रव्यूह रच कर आए शठ राजपूत अफगान सभी ।
बालक को छलने लगे अधम ले लेकर तीरकमान सभी ।।

अनगिनत महारथियों में वह अभिमन्यु घिर गया छलबल से ।
उस पर तब शस्त्र गिरे ऐसे जल बरसे जैसे बादल से ।।

धनु टूटा, उसकी असि टूटी, पर नहीं वज्र-साहस टूटा ।
जब स्वयं प्राण छूटे तन से तो स्वतः रक्त-निर्झर फूटा ।।

था दीप बुझ गया साँझ ढले, था फूल झड़ गया बिना खिले ।
अविचल-मन गुरु ने सब देखा गिरि-सम आंधी में बिना हिले ।।
था दशमपिता ने सिद्ध किया निजपुत्रों की आहुति देकर ।
'खालसा' अधीर नहीं होता है धर्मयुद्ध का व्रत लेकर ।।

यह दृश्य देख कर पाँचशिष्य जो शेष बच रहे थे अब तक ।
सह सके न गुरु का वंश-नाश वे फूट पड़े तब सिसक सिसक ।।
यद्यपि अपने घायल मन में भी थे कब से चुभ शूल रहे ।
फिर भी संयत होकर गुरु ने यूं उन्हें सांत्वना-वचन कहे ।।

"है गर्व मुझे इन वीरों पर
बालक बलिदानी अद्भुत थे ।
पर किस-किस का मैं शोक करूँ,
दो नहीं, सभी मेरे सुत थे ।।

यह तो 'अकाल' की इच्छा थी,
ऋण था जो चुका दिया मैंने ।
प्रभु की निधि प्रभु के पास गई,
इस में क्या गँवा दिया मैंने ।।

यह बलिदानों की वेला है,
काँटों पर ही चलना होगा ।
अब दीपशिखा की तरह हमें
पल-पल तिल-तिल जलना होगा ।।"

इतने में शठ विजयोन्मादी दारुण क्रोधानल में तप के।
'तकबीरी' नारे बोल मुग़ल सब गढ़ी-द्वार-उन्मुख लपके ।।

अविलंब काल की ज्वाल बने अविचल अजेय गुरु युद्धवीर।
वीरासन लगा शरासन ले अविराम चलाने लगे तीर ।।
प्रलयंकर विद्युत-बाणों से विस्मित रिपु का मुख मोड़ दिया।
जो संमुख नहीं स्वयं आया, करुणा कर उसको छोड़ दिया ।।

गुरु की लोकोत्तर शक्ति देख दुश्मन के छक्के छूट गए।
षड्यंत्रकारियों के संपूर्ण सुनहरी सपने टूट गए ।।

दिन शोक-सिन्धु में जा डूबा सुख-संध्या को कंगाल किए।
प्राची-अंचल में रवि सोया रो रो कर आंखें लाल किए ।।
निकला जब पांडुरवर्ण शशी पीड़ित मन खंडित तन लेकर।
गुरुसेवा में पहुँचे पाँचों गुरुसेवक आवेदन लेकर ।।

"हे प्रभो, 'खालसा' पंथ स्वयं ही जिसे आपने जन्म दिया।
उसका भविष्य संकट में है जिसके हित सब बलिदान किया ।।
यदि आंच आ गई नेता पर, दल के बचाव का क्या होगा।
जिसका नाविक ही साथ न हो, उस भग्न नाव का क्या होगा ।।

यदि आप रहे जीवित जग में, हमसे लाखों मिल जाएंगे।
उपवन का माली बचा रहा तो फूल पुनः खिल जाएँगे ।।

है समय, पंथ की रक्षाहित गढ़ से चुपचाप निकल जाएं।
संघटित करें 'खालसा' पुनः सद्धर्मध्वजा को फहराएँ ।।
है माँग समय की, संकट का जैसे भी हो प्रतिकार करें।
यह है अनुरोध 'खालसा' का, इस 'गुरुमत' को स्वीकार करें ।।"

बोले गुरु हो गम्भीर—"मुझे भय विवश नहीं कर सकता है ।
पीकर 'अकाल' का अमृत कभी 'खालसा' नहीं मर सकता है ।।
पर आज धर्म-संकट आया, मैं भी आदर्श निभाऊँगा ।
है 'पंथ खालसा' गुरु-स्वरूप, 'गुरुमत' को सीस झुकाऊँगा ।।"

यह निश्चित हुआ, दशमगुरु के अनुचर भी तीन साथ जाएँ ।
दो शेष शत्रु को व्यस्त रखें, कुछ कूटनीति भी अपनाएँ ।।
गुरु 'संतसिंह को दे कलगी निज शस्त्र सजाकर सँभल गए ।
फिर तोड़ गढ़ी का पार्श्व-भाग झट गुप्त-मार्ग से निकल गए ।।

अष्टम सर्ग

चोट कौनसी थी जो गुरु के मन पर नहीं लगी थी ।
था संघर्ष सहोदर उनका पीड़ा बहन सगी थी ॥

परीक्षा

चारों ओर शोर सा छाया था सरहिंद नगर-में।
हलचल फैली गली गली में कौतूहल घर घर में ।।

मानवता के भग्नवक्ष पर फिर से चोट पड़ी थी।
दानवता की पिशाचिनी मुँह खोले तृषित खड़ी थी ।।
निष्ठा की क्यारी में क्षुद्र स्वार्थ का फूल खिला था।
स्वामी से विश्वासघात का नव दृष्टान्त मिला था ।।

दो दुधमुँहे अजान अवश बालक दशमेश पिता के।
ज्यों जलते अंगार पितामह की अनबुझी चिता के ।।
वृद्धा गुजरी माँ के संग भयानक प्रलय-निशा में।
अस्त-व्यस्त गुरुदल से बिछुड़ गए थे भिन्न-दिशा में ।।

गंगाराम विप्र गुरुकुल का एक पुराना चाकर।
दुष्ट दुराशय अपने घर ले गया उन्हें फुसला कर ।।
रखा एक दिन बड़े प्रेम से, चुरा लिया धन सारा।
म्लेच्छों से मिल गया पुनः वह धूर्त लोभ का मारा ।।

था कलंक द्विजकुल का वह नरपशु जघन्य गुरु-द्रोही।
स्वर्गंगा में धूम्रकेतु सा वह पथ-भ्रष्ट बटोही ।।

दादी रही मनाती समझाती अनुनय के स्वर में।
घर न कर सकी किंतु अश्रु की धारा जड़ पत्थर में ।।
सूबेदार 'वज़ीर खान' मन में था अति हर्षाया।
गुरु से वैर चुकाने का उसने था अवसर पाया ।।

झट विशेष दरबार लगा तानाशाही यवनों का।
होने लगा तुरन्त भाग्य-निर्णय नन्हे सुमनों का ।।
मूँछों पर थे ताव दे रहे धूर्त्त यवन अभिमानी।
आलमगीरी तलवारों का सूख गया था पानी ।।

तुर्कशक्ति असहाय बालकों का वध सोच रही थी।
खिसियानी बिल्ली निराश हो खम्बा नोच रही थी ।।
भूखे रक्त-पिपासु भेड़िये लम्बी जीभ निकाले।
बन्दी सिंह-शावकों पर अब गृध्र-दृष्टि थे डाले ।।

आशंकित हो दादी सिहर उठी सम्भावित भय से।
झट लेकर सस्नेह अंक में बोली शान्त-हृदय से ।।

"सुनो वत्स, गुरुवंश-तिलक, मेरी आँखों के तारे!
जाओ अग्नि-परीक्षा में उर में 'अकाल' को धारे ।।
अमृत-पान करने वालो, अब विष भी पीना सीखो।
तुम दादा से मरना और पिता से जीना सीखो ।।

विपदाओं की घोरघटा में विद्युत-सम मुस्काना।
कुसुमादपि कोमल हो, वज्रादपि कठोर बन जाना ।।
याद रहे निज धर्म प्राण से भी प्यारा होता है।
कितना बड़ा प्रलोभन-सागर हो, खारा होता है ।।"

"दादी माँ, निश्चिन्त रहो, आदर्श नहीं छोड़ेंगे।
प्राण छोड़ देंगे लेकिन संघर्ष नहीं छोड़ेंगे ।।"

दादी का आसीस लिए शिशु राज-सभा में आए।
मरुस्थली में ज्यों वासन्ती मन्द पवन लहराए॥
सब विस्मित रह गए देखकर उन का रूप निराला।
पलभर को सौन्दर्य-सुधा ने विष को मधु कर डाला॥

गोरा-मुख राकेश-सहोदर, मृगशावक से लोचन।
तन में बसी चैत्र की ऊषा, अलकों में सावन-घन॥

'ज़ोरावर' के बाल-काण्ड में नव-वसन्त की सुषमा।
तुलसी की भाषा, भूषण का छन्द, सूर की उपमा॥
'फ़तहसिंह' के तुतले स्वर से शैशव भी शरमाता।
था सतरंगा इन्द्र-धनुष ही उसका रूप सजाता॥

नहीं प्रभावित हुए तनिक शिशु शाही आडम्बर से।
तुरत 'वाहगुरु जी की फ़तह' बुलाई ऊँचे स्वर से॥

गर्जा काज़ी—"झुक कर पहले तीन सलाम करो तुम।
फिर 'कलमा' पढ़ कर स्वीकार अभी इस्लाम करो तुम॥"
ज़ोरावर ने कहा—"सिंह का धर्म नहीं बदलेगा।
एक 'अकाल' और गुरुजन-बिन मस्तक नहीं झुकेगा॥"

हँस कर बोला पट्ठ नवाब—"तुम बालक सौम्य सलौने।
ला देंगे हम तुम्हें बहुत से सुन्दर खेल खिलौने॥
केवल इस्लामी मत का अनुयायी तुम्हें बना कर।
दे देंगे सब सुखद सदन, धन-दौलत, नौकर-चाकर॥

पुनः करा देंगे जन्नत की हूरों से भी शादी।
मज़े करोगे तुम भी, सुख लूटेगी बुढ़िया दादी॥"

"क्या समझोगे कुटिल काग ! तुम उस चातक का जीवन ।
सभी जलाशय छोड़ इष्ट है जिसे एक स्वाती-कण ।।
धर्म-प्राण हैं, धर्म-हेतु हम स्वयं प्राण भी देंगे ।
पारस-मणि को बेच काँच के टुकड़े क्यों हम लेंगे ।।"

"बालबुद्धि ठहरी ठोकर खाने पर पछताती है ।
किन्तु अवस्था देख तुम्हारी हमें दया आती है ।।

है चमकोर गढ़ी पर अब नीला निशान लहराता ।
मारे गए सबन्धु तुम्हारे पिता और दो भ्राता ।।
ऐसी दीन दशा में तुम बोलो क्या काम करोगे ?
क्या खाओगे, क्या पहनोगे, कहाँ कहाँ भटकोगे ?"

"तुम मिथ्याभाषी हम को भयभीत नहीं कर सकते ।
धर्मवीर गुरुदेव अमर हैं, कभी नहीं मर सकते ।।
हम दशमेश-पिता के सुत हैं, शंकर विष-पायी हैं ।
गुरु अर्जुन, गुरु तेगबहादुर के हम अनुयायी हैं ।।

काम हमारा धर्मयुद्ध है, सत्य-पंथ के राही ।
भूख प्यास की चिन्ता कैसी, हम हैं 'सन्त-सिपाही' ।।
जब तक जीवित हैं हम अत्याचार न होने देंगे ।
मातृभूमि पर दुश्मन का अधिकार न होने देंगे ।।"

"नहीं अबोध करों में शोभा देती हैं तलवारें ।
अभी देखनी हैं तुमने जीवन में नई बहारें ।।"

"नई बहारें, हाँ हाँ, जिसमें बलि के फूल खिलेंगे ।
फाग खेलने को रिपु के शोणित-घट जहाँ मिलेंगे ।।
भेरि बजाएँगे तरु, कोयल युद्ध-राग गायेगी ।
हम अवश्य देखेंगे कब ऐसी बहार आयेगी ?"

"तुम तो हो नादान, युद्ध की बातें नहीं समझते।
कभी भयंकर आँधी से दो तिनके नहीं उलझते॥"

फ़तहसिंह बोला—"हम सिक्खों को एकत्र करेंगे।
दुष्ट शृगालों की सेना से सिंह न कभी डरेंगे॥
हार न मानेंगे हम कभी न पीछे पाँव धरेंगे।
जीत न पाए युद्ध, शहीदों की ही मौत मरेंगे॥

"मरना है अत्यन्त भयानक, हानि युद्ध करने में।
तुम क्यों जान बूझ कर इतने उत्सुक हो मरने में ?"

"जिसे मृत्यु तुम समझ रहे जीवन का अन्त नहीं है।
क्या पतझड़ के बाद विहँसता पुनः वसन्त नहीं है ?
जीर्ण-वस्त्र की तरह प्राण भी सदा शरीर बदलते।
ज्योति अखण्ड बनी रहती दीपक हैं बुझते जलते॥

एक बार जीवन में है अनिवार्य मृत्यु का आना।
वह भी धर्म-हेतु आए तो फिर कैसा घबराना ?
बुरा मृत्यु से वह जीवन जो कायरता से बीते।
मृत्यु भली जीवन से, जिस का अमृत वीरवर पीते॥

हम 'अकाल' के दास, काल से कभी नहीं डरते हैं।
जग जीता है मरने को, हम जीने को मरते हैं॥"

"मरते हो तो मरो, चाव सब पूरा हम कर देंगे।"
"हमें 'वाहगुरु' सचमुच आज अमरता का वर देंगे॥"

दृष्टि वज़ीरखान ने तब डाली सब सभासदों पर ।
'शेर मुहम्मद खान' शान्त मुद्रा में बोला उठकर ।।

"दण्ड पिता के दोषों का पुत्रों को क्यों देते हो ?
हा, निर्दोष बालकों से तुम क्यों बदला लेते हो ?
इनका पिता युद्ध में मेरे भाई का घातक है ।
पर निरीह, निरुपाय, अबोध सुतों का वध पातक है ।।"

दुर्जन 'सुच्चानन्द' सचिव ने कहा रोष में भर कर ।
"ज़हर साँप के बच्चों का उतरेगा केवल मर कर ।।
शैशव का यह रंग, जवानी में तो प्रलय मचेगी ।
इनके जीवित रहते शासन-सत्ता नहीं बचेगी ।।"

बहुत विवाद चला, चिल्लाए क्रुद्ध मौलवी-काज़ी ।
हुए सभी दीवार-मध्य चुनवा देने पर राज़ी ।।

तीन दिवस तक सूबा ने अति ललचाया धमकाया ।
पर दोनों का ध्रुव संकल्प न तिल भर हिलने पाया ।।
आखिरकार मिला आदेश हुई आरम्भ चिनाई ।
गुरुपुत्रों ने आँख मूँद कर सहज-समाधि लगाई ।।

ईंटों में घुटने जब छिपे नवाब लगा समझाने ।
फ़तहसिंह की ओर तभी देखा अग्रज भ्राता ने ।।
बोला वह केसरिकुमार—"अब प्रश्न नहीं झुकने का ।
एक बार जब पंथ चुन लिया, समय कहाँ रुकने का ।।"

छाती तक दीवार उठी, पूछा नवाब ने फिर से।
"अभी समय है, बोलो, विपदा टल सकती है सिर से।।
हठ मत करो, लाभ को समझो, मुसलमान बन जाओ।
नन्ही कलियो ! बिना खिले बेमौसम मत मुरझाओ।।"

ज़ोरावर मुस्करा दिया बस, छायी लहर प्रभा की।
बुझने से पहले जैसे चमके लौ दीपशिखा की।।

भित्ति अनुज के कण्ठ-निकट पहुँची तो सहसा देखा।
सजल-नेत्र अग्रज के मुख पर थी चिन्ता की रेखा।।
हर्षित हो काज़ी ने व्यंग्य कसा "अब क्यों रोते हो।
अभी गिराता हूँ दीवार अगर सहमत होते हो ?"

ज़ोरावर ने कहा—"नासमझ हो तुम भूल रहे हो।
मेरे मन में शूल़ चुभे हैं क्यों तुम फूल रहे हो।।
सुनो, मुझे अग्रज होने में आज लाज है आती।
भाई का सौभाग्य देख कर फटी जारही छाती।।

मुझे खेद है मैंने जिससे पहले जन्म लिया था।
और 'पंथ' की सेवा करने का संकल्प किया था।।
वही अनुज मेरे रहते ऋण आज उतार रहा है।
मुझसे पहले बलिवेदी पर जीवन वार रहा है।।

बड़ी कृपा होगी, स्वधर्म-हित मुझे प्रथम मरने दो।
अवसर बीत रहा है बलि का पुण्य प्राप्त करने दो।।"

सुन कर उत्तर चकित रह गए सभी दण्ड-अधिकारी ।
किन्तु क्रोध से काँपे काज़ी, सुलग उठी चिनगारी ।।
आज्ञा हुई—'तुरन्त काट दो अब इनका सिर धड़ से ।
उपद्रवी विष-वट के अंकुर को उखाड़ दो जड़ से ।।'

पल में विद्युत सी चमकी, तलवार तीक्ष्ण लहराई ।
कट कर गिरे फूल से मस्तक, वसुन्धरा थर्राई ।।
रवि ने केसर तिलक दिया, गिरिशिखिर झुके स्वागत में ।
जयजयकार स्वर्ग में गूँजा हाहाकार जगत में ।।

पड़े रक्तरंजित मस्तक थे, अम्बर मौन खड़ा था ।
माता का दिल, जिगर पिता का टुकड़े हुए पड़ा था ।।

टूट गई थीं दो गुलाब की कलियाँ ज्यों डाली से ।
बहे रक्त के अश्रु प्रकृति के नयनों की प्याली से ।।
बिंधे हुए दो बालहंस थे गिरे व्याध के शर से ।
मूर्च्छित थे दो राग निकल टूटी वीणा के स्वर से ।।

यही लाल थे कल तक दादी की गोदी में खेले ।
जिन के सुख के लिये दुःख कितने थे उसने झेले ।।

माता जिनको ममता के आँचल में थी दुलराती ।
मधुर लोरियाँ सुना सुना कर अपने साथ सुलाती ।।
स्वयं पिता थे बड़े प्यार से जिन को चूमा करते ।
जिन्हें बिठा कर कन्धों पर सेवक थे घूमा करते ।।

जो विश्राम किया करते थे रेशम की शय्या पर।
वही शीश हैं आज धूलि में लेटे लथपथ होकर ॥

जिन का निर्मल रूप चाँदनी से मैला हो जाता।
आज नहीं कोई भी उनके लिए कफ़न तक लाता ॥
जिन को तनिक उदास देखकर नभ का हृदय धड़कता।
किसी आँख से आज एक भी आँसू नहीं टपकता ॥

माता भी है दूर, पिता का ज्ञात निवास नहीं है।
हा दुर्दैव ! अभागिन दादी भी तो पास नहीं है ॥
नहीं बोलते आपस में भी कहीं दूर खोए हैं।
लोरी बिना सुने ही आँखें बन्द किए सोए हैं ॥

निकट कँगूरे में दादी की छाती धड़क रही थी।
संकट-भय से दायीं आँख कभी से फड़क रही थी ॥

वह थी कई दिनों से ही अनसोई भूखी प्यासी।
प्यारे पोतों की चिन्ता में जलती रही चिता सी ॥
बाट जोहती आँखों का भी सूख गया था पानी।
काँप रहा था हृदय याद कर पति की करुण-कहानी ॥

समाचार सुनते ही बच्चों की निर्मम हत्या का।
वज्र गिरा, फट गया कलेजा वृद्धा गुरुमाता का ॥
प्रिय पोतों के साथ साथ दादी भी स्वर्ग सिधारी।
पत्ती पत्ती होकर बिखर गई गुरु की फुलवारी ॥

उधर निकल चमकोर-गढ़ी से गुरुवर निपट अकेले ।
निशिदिन भटके निर्जन-वन में अकथनीय दुख झेले ।।

झाड़ और झंखाड़ चीर कर अपनी राह बनाई ।
वात शीत सह कर शतदल सी मृदुल-देह कुम्हलाई ।।
भूख लगी मंदार-रस लिया, पत्र-प्रसून चबाए ।
वस्त्र फटे, छिद गए अंग, नंगे पद चला न जाए ।।

देख शमी-सरकंडों ने आहें भर सीस हिलाया ।
बेरी और बबूल द्रुमों की हुई कंटकित काया ।।

सब कुछ लुटा चुका था अपना वह मस्ताना जोगी ।
नहीं दुर्दशा कभी किसी ने ऐसी देखी होगी ।।
चोट कौन-सी थी जो गुरु के मन पर नहीं लगी थी ।
था संघर्ष सहोदर उनका, पीड़ा बहन सगी थी ।।

शैशव से अभ्यस्त हुए थे विधि की छलनाओं से ।
उनका अन्तस्तल छलनी था ज्यों विधु उल्काओं से ।।

घाव कौन से थे, ऐसे जो गुरु ने नहीं सहे थे ।
पर वे तप कर सूर्य-समान धुरी पर अचल रहे थे ।।
यह उनका साहस था जो हर संकट झेल रहे थे ।
साधन-हीन अकेले तूफ़ानों से खेल रहे थे ।।

फिर भी परमज्योति गुरु के अन्तर में जगी हुई थी ।
'अजपा-जप' चल रहा अनिश हरि से 'लिव' लगी हुई थी ।।
स्वयं प्रकृति भी थाम कलेजा विस्मित मौन खड़ी थी ।
विकल विपंची से करुणा-स्वर-लहरी फूट पड़ी थी ।।

तेरा एक सहारा

घोर गगन में शोर, भंवर में नैया, दूर किनारा।
तेरा एक सहारा प्रभुवर, तेरा एक सहारा॥

माँगा था बलिदान कभी जब पीड़ित मानवता ने,
मैंने भेज दिया था पूज्य पिता को सीस चढ़ाने।
महाकाल की जिह्वा लपक उठी जब प्यास बुझाने,
कफ़न बाँधकर सिंह हज़ारों निकल पड़े दीवाने।
रण में अमर शहीदों की बह चली रक्त की धारा॥

तेरा एक सहारा

फैली थी बलिदान भावना, ज्यों वन में कस्तूरी,
जीवन और मृत्यु की कम हो गई परस्पर दूरी।
रणचण्डी की किन्तु मुण्डमाला थी अभी अधूरी,
अपने पुत्रों के सिर देकर मैंने कर दी पूरी।
देश-धर्म के लिए स्वयं ही लुटा दिया घर सारा॥

तेरा एक सहारा

मैंने तो प्रत्येक मनुज को गले लगाना चाहा,
भ्रातृ-भाव का पाठ पढ़ा कर भेद मिटाना चाहा।
स्वयं हलाहल पीकर सब को अमृत पिलाना चाहा,
शक्ति-मंत्र दे निर्जीवों को अमृत पिलाना चाहा।
मूर्ख सिंधु ने किंतु कर दिया वर्षा-जल सब खारा॥

तेरा एक सहारा

वैरी जग ने गुरुकुल पर निष्कारण दोष लगाये,
अविरत कर विश्वासघात दारुण षड्यंत्र बनाये।
जब निर्लज्ज शत्रुसेना ने आकर वज्र गिराए,
तो निश्चय कर मैंने भी चिड़ियों से बाज़ लड़ाए।
सिंहों के 'सत सिरि अकाल' से गूँज उठा नभ सारा॥

तेरा एक सहारा

जिनके बल पर रण में सदा विजय थी मैंने पाई,
मेरे लिए जिन्होंने हँस-हँस अपनी जान गँवाई।
जो मेरे सपनों का संबल, जो मेरी तरुणाई,
चले गए वे मृत्यु—गोद में, देते नहीं दिखाई।
मैं एकाकी शेष बचा हूँ यथा भोर का तारा॥

तेरा एक सहारा

माता और पिता पत्नी, परिवार पुत्र संघाती,
नहीं निकट कोई भी मेरे, जन्म-मरण का साथी।
स्वयं जल रहा स्नेह-शून्य दीपक की जैसे बाती,
दुखनिर्झर से फटी जा रही पत्थर की भी छाती।
सपनों की अर्थी लेकर मन घूम रहा बेचारा॥

तेरा एक सहारा

पौष मास की रात, समीर चुभोता हिम के भाले,
पग पग पर रिपु की आशंका, प्राणों के भी लाले।
सतत अनिद्रा, भूख-प्यास ने अंग शिथिल कर डाले,
कंटक-पूर्ण बनों में भटका पड़े पाँव में छाले।
दुर्दिन की आंधी में डूब गया सौभाग्य-सितारा॥

तेरा एक सहारा

अन्धकार होते अनजाने पथ पर पाँव बढ़ाता,
दिन में लता गुल्म-तरुकुंजों में छिपकर सो जाता।
नभ की चादर ओढ़ भूमि पर कंकड़ सेज बिछाता,
जोहड़ का पंकिल जल पीता, कंदमूल दल खाता।
ठौर ठौर पर अलख जगाता फिरा साधु बनजारा॥

तेरा एक सहारा

जिन्हें सदा धन-धाम-धरा का दान दिया बहुतेरा,
उन शिष्यों के घर में गुरु को मिला न रैन बसेरा।
स्वार्थभावना, राजकोप के भय ने ऐसा घेरा,
अपने हुए पराए, देखा दीपक तले अँधेरा।
सुनी कहीं से भी न प्रतिध्वनि, चारों ओर पुकारा॥

तेरा एक सहारा

सहसा मिले पूर्वपरिचित सज्जन पठान दो भाई,
मुझे कष्ट में देख प्रीत की सच्ची रीत निभाई।
आपद्धर्म विचार वेषभूषा नीली अपनाई,
बना 'उच्च का पीर' पालकी कन्धों पर उठवाई।
था 'विचित्र नाटक' का यह भी दृश्य अनोखा प्यारा॥

तेरा एक सहारा

आज मित्र प्रियतम को जाकर कोई हाल सुनाए,
मतवाले दिल-जले प्रेमियों की पीड़ा पहुँचाए।
रोग हो गई सेज सजीली, प्रिय के बिना न भाए,
सौध-सदन में वास चुभे ज्यों कालनाग डस जाए।
मधु का मधुर छलकता प्याला ज्यों खंजर की धारा॥

तेरा एक सहारा

लगे शूल सी सरस सुराही, प्रिय साकी से कहना,
मधुशाला वीरान पड़ी है, देना उसे उलहना।
बधिक-छुरी सा कठिन हो गया अब वियोग का सहना,
देता है सुखस्वर्ग यार की पर्णकुटी में रहना।
है घरबार बन गया जलती भट्टी का अंगारा ।।

तेरा एक सहारा

चलते रहे अबाध दशमगुरु कष्ट निरन्तर सहते।
विकट समय की धारा में प्रतिकूल-दिशा में बहते ।।
साम, दाम, भय, दण्ड नीति से काम लिया गुरुवर ने।
शीघ्र जुट गए पुनः 'पन्थ' की उचित व्यवस्था करने।

गुरु ने जननी और आत्मजों की जब खोज कराई।
क्रूर नियति अति हृदय-विदारक समाचार ले आई ।।

दुखद सूचना पाकर 'माही' से अमानुषिक वध की।
हिन्दू-मुस्लिम सब में शोक-रोष की ज्वाला भड़की ।।
था असह्य दुख, स्थिति विस्फोटक, संकट-घटा घिरी थी।
असमय ही गुरु-वंशवृक्ष पर भीषण गाज गिरी थी ।।

पर कलगीधर अविचल थे ज्यों ध्रुवनक्षत्र निशा में।
हर्ष न शोक, न राग न द्वेष, रहे स्थितप्रज्ञ-दशा में ।।
दृढ़प्रतिज्ञ गुरु थे विपत्ति सहने के चिर-अभ्यासी।
विश्वंभर की मंगलमय इच्छा के दृढ़-विश्वासी ।।

बोले "मरे नहीं वे, सदा अमर हैं, मुक्त हुए हैं।
कर पूरा कर्तव्य 'वाहगुरु' से संयुक्त हुए हैं।।
देह अनित्य न, नित्य रहे, यह धार लिया दोनों ने।
यश की नाव चढ़े, भवसागर पार किया दोनों ने।।

अन्धकार के विना सितारों की पहचान न होती।
वीर मृत्यु-सागर में ही पाते जीवन के मोती।।
दिखा गए हैं मार्ग बड़ों को ये बालक बलिदानी।
जग में जीवित सदा रहेगी इनकी अमर कहानी।।

निरपराध-वध सुलगा देगा नई शक्ति की ज्वाला।
हो जाएगा जिसमें भस्म कुकर्मी-दल मतवाला।।
निश्चय रखो अवश्य मुगल-सत्ता जड़ से उखड़ेगी।
औ, सरहिन्द-नगर की शीघ्र ईंट से ईंट बजेगी।।"

यह कहकर गुरु ने उखाड़ ली दूब हाथ से अपने।
नष्ट कर दिये हों मानो रिपुके समूल सब सपने।।

उन्हीं दिनों सम्राट्-दूत गुरु के समीप था आया।
मधुर-मिलन का प्रेमनिमन्त्रण फिर से था दोहराया।।

कूट-नीति ने गुरु से हा ! कैसा उपहास किया था।
मधुर व्याज से नमक हरे घावों पर डाल दिया था।।
एक हाथ से तो जघन्य हत्या का क्रूर तमाशा।
और दूसरे से आलिंगन करने की अभिलाषा।।

कुछ विचार करके वदान्य गुरु ने पथ खोज निकाला।
शुद्ध फ़ारसी-छन्दों में यूँ 'विजय-पत्र' लिख डाला।।

"मुझे शपथ है सर्वशक्तिशाली निर्भय असिधर की।
कुन्त-कृपाण-कमान-बान की, तोमर-तेग-तबर की ।।
जो 'अकाल' ने मुझे कहा वह जग से सत्य कहूँगा।
मर्त्यलोक के भय से मैं चुप नहीं कदापि रहूँगा ।।

तू साम्राज्यवाद का ध्वज, मैं लोकक्रान्ति की ज्वाला।
तू है गरल भरा द्विजिह्व, मैं पिए अमृत का प्याला ।।
लूट मार धोखा तेरा जीवन-संघर्ष बना है।
देश-धर्म का संरक्षण मेरा आदर्श बना है ।।

दक्षिणपथ मेवाड़ राज्य में खाकर हार करारी।
तूने मेरा नीड़ फूँकने की कर ली तैयारी ।।
याद रहे मुझ से लड़ना इतना आसान नहीं है।
फूँकों से रुक सकता कभी अरुण का यान नहीं है ।।

तेरे चरणों के नीचे मैं अंगारे रख दूँगा।
प्रिय पंजाब-भूमि में जल की बूँद न पीने दूँगा ।।
यदि साहस है स्वयं समर में आजा कर असिधारण।
क्यों निर्दोष जनों का लहू बहाता है निष्कारण ।।

मुझे खेद है तू भारत का शहनशाह कहलाता।
पर अपने ही वचन और शपथों को नहीं निभाता।
होता है मालूम सत्य तेरा ईमान नहीं है।
तू कपटी है, तुझे ख़ुदा की कुछ पहचान नही है ।।

तेरे दूतों ने आश्वासन दिए कुरान उठाकर।
पर सारे प्रण भूल गए वे मुझसे दुर्ग छुड़ाकर ।।
वचन-भंग, विश्वास-घात कर मुग़ल-चमू चढ़ आई।
कोई और न राह देख मैंने तलवार उठाई ।।

एक ओर भूखे प्यासे चालीस सिक्ख थे केवल।
एक ओर शत शत सहस्र आक्रमणकारियों का दल ॥
फिर भी डटकर लड़े सिंह, सारा दिन हार न मानी।
छली वैरियों के सपनों पर फेर दिया सब पानी ॥

मैं 'अकाल' की करुणा से चुप चाप तोड़कर घेरा।
निकला अक्षत-अंग, हो सका बाँका बाल न मेरा ॥
प्रभु हो जिसका मित्र, शत्रुगण क्या बिगाड़ सकते हैं ?
चलें पवन उँचास, नहीं गिरि को उखाड़ सकते हैं ॥

मेरे चारों पुत्रों को यदि मार दिया तो क्या है।
अभी तुझे डसने को शेष विशाल 'भुजंग' पड़ा है ॥
चिनगारियाँ बुझाने से यह अग्नि और भड़केगी।
गिरने से नक्षत्र गगन की गरदन नहीं झुकेगी ॥

'खण्डे' का जल पी अखण्ड हो गया 'खालसा' मेरा।
उसका अमर प्रकाश न रोक सकेगा कभी अन्धेरा ॥
तू है सैन्यशक्ति पर निर्भर अभिमानी हत्यारा।
जग का 'सच्चा पातशाह' है मेरा एक सहारा ॥

अब तेरी शपथों पर रत्ती-भर विश्वास नहीं है।
मुझे निरन्तर धोखा खाने का अभ्यास नहीं है ॥
'बख्शी' या 'दीवान' सभी तेरे समान झूठे हैं।
जिनके लिये कुरान पाक के भी प्रमाण झूठे हैं ॥

कैसा तेरा न्याय, निराली धर्मभावना तेरी।
किया पिता को कैद, छुरी फिर सहोदरों पर फेरी ॥
कर में है 'तसबीह', स्वार्थ का किन्तु जाल है बुनता।
राज्य-सैन्य सत्ता के मद में नहीं किसी की सुनता ॥

याद रहे साम्राज्य-भवन पल भर में ढह जाएगा।
तीव्र समय की धारा में तू तृण सा बह जाएगा।।
नहीं रहे तैमूर सिकन्दर, सभी काल ने मारे।
सारा वैभव छोड़ अन्त में नंगे पाँव सिधारे।।

मत कर अत्याचार किसी के बहकावे में आकर।
उठ न सकेगा मूर्ख, किसी दिन विधि की ठोकर खाकर।।
तेरे नित्य कुकर्मों से भर गया पाप का घट है।
अभी समय है, शीघ्र चेत जा, तेरा अन्त निकट है।।

मुझे दूत से पत्र और सन्देश मिला है तेरा।
एक मन-वचन-कर्म अगर हो, भ्रम का मिटे अँधेरा।।
तू यदि 'काँगड़' में आ जाए तो हो मिलन हमारा।
सम्मुख वार्तालाप करें फिर बहे शान्ति की धारा।।

पथ में भय का लेश न होगा तुझे मुगलबलधारी।
है बैराड़ जाति मेरी आज्ञानुवर्तिनी सारी।।"

'विजय-पत्र' औरंगजेब तक यथाशीघ्र पहुँचाने।
गुरु ने दयासिंह को भेज दिया सब स्थिति समझाने।।

नवम सर्ग

दृढ़ अनुशासन-बद्ध न होंगे जब तक नवभारत के लोग।
नहीं कटेगा तन का बन्धन, नहीं मिटेगा मन का रोग।।

चेतना

घूम-घूम मालव-प्रदेश में निशिदिन करते धर्म-प्रचार।
सतत चल रहे थे कलगीधर देश-काल-स्थिति के अनुसार ।।
नील वस्त्र सब फाड़ जलाए, धारण किया शुभ्र वर वेष।
"तुर्क पठानी अमल गया" का दिया क्राँतिकारी संदेश ।।

अपराजेय अकुंठित गुरु का तेजस्वी व्यक्तित्व महान।
प्रेरक था घन अन्धकार-वारिधि में ज्योतिस्तम्भ समान ।।
त्याग 'खालसा' का देता था नई चेतना का आभास।
जड़ जग को झँझोड़ रहा था दिव्य रक्त-रंजित इतिहास ।।

फूँक रहे थे प्राण जाति में अमर शहीदों के बलिदान।
और दशमगुरु के पुत्रों की निर्मम हत्या के आख्यान ।।

जनमानस में उफन पड़ा था पुनः क्रान्ति का महासमुद्र।
कण कण ताँडव नृत्य कर उठा, शिव बनगया पिनाकी रुद्र ।।
पुनः लौट आया सिक्खों में गौरवपूर्ण आत्मविश्वास।
अस्त्र-शस्त्र अश्वों की भेंट लिए पहुँचे सब गुरु के पास ।।

वे भी पछताए थे जो 'आनन्द पुरी' को आए छोड़।
केवल प्राण-लोभ से अपने विपद्ग्रस्त गुरु से मुँह मोड़ ।।

अपने-अपने घर पहुँचे थे जब से वे 'माँझे' के वीर।
कसक कलेजे में उठती थी, चुभा हुआ था उर में तीर ।।
घरवालों से स्वागत के बदले में पाई थी फटकार।
तुच्छ प्राणहित हाय ! गँवा बैठे थे दोनों लोक गँवार ।।

धन्य-धन्य नारी ! जिसने कर्तव्यहीन नर को दी सीख।
ठुकरा दिया झटक कर जो भी ले आया प्राणों की भीख ।।

माँ ने कहा—"स्वयं भेजा था तुम्हें सजाकर सैनिक साज।
मेरा दूध कलंकित करते तुम्हें क्यों नहीं आई लाज?
है असह्य अनुताप हृदय का, है बोझिल जीवन की साँझ।
तुम जैसे कुपुत्र जनने से अच्छा था मैं रहती बाँझ ।।

जिस गुरु ने परमार्थ-पंथ में निज सर्वस्व दिया है वार।
देश-धर्म की रक्षाहित है ढाल बनी जिसकी तलवार ।।
ऐसे दीन बन्धु स्वामी को सहसा छोड़ बीच मँझधार।
जो घूंघटपट को तट समझे, उस लंपट को है धिक्कार ।।

जिनके होते नाम सिंह से, लेकिन स्यार सरीखे काम।
ऐसे प्राणभीरु करते हैं 'पंथ खालसा' को बदनाम ।।
किया जिन्होंने हो सतगुरु की आज्ञा का अनुचित अपमान।
उन कृतघ्न शिष्यों को क्षमा करेगा कभी नहीं भगवान ।।"

वीर पत्नियां गरज उठीं, "क्या मुँह लेकर आए हो नाथ ?
भला इसी पौरुष के बल पर पकड़ा था मेंहदी का हाथ ?

विजयी होकर अगर लौटते होता हमें असीमित गर्व।
और वीरगति पा जाते तो वही मरण बन जाता पर्व ।।
पर तुम तो भय से भागे हो कितना मन्द हमारा भाग्य।
अमृतपान करने वालों को भला मृत्यु से क्यों वैराग्य ।।

सैनिक होकर आज तुम्हारा यह कैसा विचित्र बर्ताव ?
चन्द्रहास को छोड़ तुम्हें मुखचन्द्रहास का उपजा चाव ?
रणभेरी का नाद नहीं, प्रिय तुम्हें प्रीत के मधुमय गान ।
तुम्हें चाहिएं रतिरण में भ्रूचाप और नयनों के बान ।।

लेकिन हम अबलाओं को बलि देने का भी है अभ्यास ।
साक्षी है चित्तौड़ भूमि में 'जौहर' का उज्ज्वल इतिहास ।।
समर-समय भारतनारी ने नहीं सुनी प्रिय की मनुहार ।
स्वयं काट कर अपना मस्तक भेज दिया पति को उपहार ।।

अबला होकर भी सबला हम कर लेंगी पुरुषों के काम ।
तुम फूलों की सेज बिछाकर अब निश्चिन्त करो विश्राम ।।
हम जाएंगी युद्धक्षेत्र में लेकर हाथों में हथियार ।
तुम घर बैठो पहन चूड़ियां नित्य करो सोलह श्रृंगार ।।"

खाकर अनिश वीर वधुओं के व्यंग्यपूर्ण वाणी के बाण ।
जाग उठा अँगड़ाई लेकर सिंहों का सोया अभिमान ।।

'भाग्यवती' थी देवी, जिसने देकर ओजस्वी वक्तृत्व ।
पथभ्रष्टों को राह दिखाई और किया उनका नेतृत्व ।।
निश्चय हुआ, परंतप कलगीधर गुरु के आदर्श निमित्त ।
स्वयं लुटाकर प्राण करेंगे पूर्ण पाप का प्रायश्चित्त ।।

'महासिंह' दलपति को लेकर सिक्ख मँझेले सब चालीस ।
रणचंडी के साथ चल पड़े गुरु को भेंट चढ़ाने सीस ।।
उनका अद्भुत भाव देखकर उठा 'पंथ-सेवा' का ज्वार ।
क्रमशः होता गया निराला 'संत-सिपाही'-दल तैयार ।।

उधर क्रूर सरहिन्द-प्रांतपति के मन में था अतिशय द्वेष ।
गुरुकुल का उन्मूलन उसकी कपट-नीति का था उद्देश ।।
वर्धमान श्रीगुरुप्रताप को देख हुआ वह बहुत अधीर ।
निकली उसकी विपुल चमू ज्यों लक्ष्य बाँधकर छूटे तीर ।।

ज्ञात हुआ जब धूर्त शत्रु ने गुरु को निपट निराश्रय जान ।
प्रबल आक्रमणहेतु कर दिया पूर्णशक्ति से है अभियान ।।
महासिंह बोला—"रणधीरो अब आई है बलि की बेर ।
पथ में ही तूफ़ान रोक दो डट कर विना लगाये देर ।।

है सौगंध, रहेगी जब तक जीवित हाथों में तलवार ।
गुरु की छांव न छूने पाएगा वज़ीर खां सूबेदार ।।
संख्या में कम होने पर भी जूझ मरेंगे हम निःशंक ।
उष्ण रक्त से धो डालेंगे निज मस्तक का घोर कलंक ।।"

सुनते ही बलिदानी योद्धा तुरत चल पड़े शस्त्र सँभाल ।
डेरा डाल दिया अविलंब जहाँ था 'खिदराणा' का ताल ।।
सजग हो चुके थे गुरुवर भी पाकर रिपु-सेना की गंध ।
उसी स्थान के निकट उच्च भूतल पर था कर लिया प्रबन्ध ।।

बीहड़ बन था, जटिल झाड़ियाँ, अविरल बेरी-जंड-करीर ।
जिनके तीक्ष्ण नुकीले शूलों से छिलता था सकल शरीर ।।
विना दुर्ग के खुले क्षेत्र में गिनती के थे सिंह सपूत ।
उधर हज़ारों की संख्या में आ धमके वैरी यमदूत ।।

जैसे ही पहुँचा समीप रिपु हर्षित-हृदय देखकर कुंड ।
लगे एकदम आग उगलने सघन बेरियों के सब झुण्ड ।।

चकित रह गए हाथों में ही लिए शस्त्र गुरुदल के लोग ।
उन्हें मिला था संकट में बिनमाँगे अनजाना सहयोग ।।
टीले पर से चमत्कार यह देख हो गए सब गंभीर ।
कौतूहल था, कौन कहाँ से आए गुप्त सहायक वीर ?

महासिंह दल-बल लेकर अब करने लगा चोट पर चोट ।
टूट गया अरि-चक्रव्यूह था ऐसा विध्वंसक विस्फोट ।।
विद्युत-गति से अतिरहस्यमय देख आक्रमण का यह ढंग ।
गद्गद हुए उधर गुरुसेवक, इधर मुगलसेनापति दंग ।।

क्रुद्ध बौखलाया नवाब जब झपटा अपनी सैन्य सँभाल ।
अन्य दिशा से तत्क्षण गूंजा उत्तर में 'सत सिरी अकाल' ।।

वह गुरुदल था जो रण में अब आ पहुँचा पीछे की ओर ।
बौराए से लने भागने भीरु पठान मचाते शोर ।।
पिसने लगी विपक्षी-सेना ज्योंही दो पाटों के बीच ।
झटपट सूबेदार शिविर में भागा पीठ दिखाकर नीच ।।

कभी इधर तो कभी उधर से हुई गोलियों की बौछार ।
किंकर्तव्य-विमूढ शत्रु का लक्ष्य हो गया सब बेकार ।।
तड़् तड़ तड़् तड़पीं बन्दूकें सूँ सूँ करते बरसे तीर ।
छन् छन् छन् बरछी टकराई, चम चम चम चमकी शमशीर ।।

चला रहा था रामबाण अब स्वयं धनुर्धारी 'गोविन्द' ।
देख रहा अदृश्य-हाथों से सर्वनाश सूबा-सरहिन्द ।।

सहसा सबने देखी अद्‌भुत वीरांगना एक वज्रांग।
अरिमस्तक को पिरो रही थी निर्भय लेकर पैनी सांग ।।

मातृशक्ति वह देवी मानो थी रणचण्डी का अवतार।
काँप रहा जिसके तेजस्वी मुख से असुरों का संसार ।।
नेत्रों में थी आग, अधर पर सहज 'वाहगुरु' का जयकार।
क्षत-विक्षत होकर भी उसने किया सैकड़ों का संहार ।।

कभी चीरती शत्रुनयन वह, कभी उदर को करती चाक।
रण में उसकी धाक देखकर हर पठान रह गया अवाक् ।।

तीव्र वेग के साथ तभी उमड़ा नृशंस मुगलों का झुण्ड।
तीक्ष्ण खुरासानी तलवारें लगीं काटने मानव-मुण्ड ।।
प्रलय मची संग्रामभूमि में, होने लगी दशा गम्भीर।
क्रम क्रम से गुरु ने भी भेजे अपने दल के सैनिक वीर ।।

शाही लशकर के सागर में उठा भयंकरतम तूफ़ान।
जिसकी शत-सहस्र लहरों में होने लगे विलीन जवान ।।

लगी स्वयंसेवक सिंहों में बलि होने की अनुपम होड़।
कफन बाँधकर आने वालों ने रिपु-गर्व दिया सब तोड़ ।।
अलबेले वीरों की लाशों से भर गया धरा का अंक।
शोणित से धो दिया उन्होंने निज माथे का घोर कलंक ।।

जब तक प्राण रहे तन में, सिंहों ने कभी न छोड़ा खेत।
छँटती गई मगर उनकी लघुसंख्या ज्यों मुट्‌ठी में रेत ।।
'गुरुमुख' बनने की इच्छा में वार दिये हँस-हँसकर प्राण।
बना 'पन्थ' का गौरव सचमुच उनका अमर मूक बलिदान ।।

था प्रचण्ड वैशाख विषम, झुलसाती लूएँ, जलती धूल।
घुटने लगा शत्रु का दम भी, कब से साँस रही थी फूल ।।
सूख रहा था कंठ प्यास से, सभी हो रहे थे बेहाल।
निर्जन मरु, दुःसह निदाघ में पानी का था घोर अकाल ।।

देख प्राण अपने संकट में सैनिक मुगल लगाकर ज़ोर।
गुरुभक्तों को काट-काटकर बढ़ते गए ताल की ओर ।।
दूर हुई जब बाधा, दौड़े प्यासे यवन विकल विकराल।
किन्तु निकट जाकर देखा तो—हा ! दुर्दैव। शुष्क था ताल ।।

सिंह हो चुके थे शहीद सब पर था दुखद समर का अंत।
क्योंकि प्राणरक्षाहित जल की बूँद न थी मीलों पर्यंत ।।
हुआ हताश वजीरखान, सेना में छाया हाहाकार।
पूर्ण विजय पाने से पहले मिली अकल्पित उसको हार ।।

सभी साथियों ने नवाब से मिल सविशेष किया प्रस्ताव।
'तुरत यहाँ से चलकर डालो किसी जलाशय-निकट पड़ाव' ।।
होकर विवश दिया सेना को उसने मुड़ने का आदेश।
इस विधि पुनः 'अकाल'-कृपा से हुए सुरक्षित गुरुदशमेश ।।

झटपट युद्ध-भूमि में जाकर गुरु ने देखा घोर विनाश।
कटे अंग-प्रत्यंग पड़े थे, सब दिशि चढ़ी लाश पर लाश ।।
कहीं हताहत अश्व और नर तड़प रहे थे लहू-लुहान।
गिद्ध मांस थे नोच रहे, जंबुक कर रहे रुधिर का पान ।।

सहसा गुरु ने हिलती देखी विक्षत एक सिंह की देह ।
तुरत अंक में लेकर उसे पिलाया शीतल जल सस्नेह ।।

उत्तरीय से अंग पोंछकर चूमा 'महासिंह' का सीस ।
लिपट गए छातीं से फिर गुरु रोम रोम से दी आसीस ।।
अस्थिर हुआ हिमालय, ऐसी उमड़ी तीव्र प्रेम की पीर ।
द्रवित हो गए महाबली, बह चला सहज नयनों से नीर ।।

तनिक सिक्ख ने आँखें खोलीं, मिटा हृदय का सारा शूल।
गद्‌गद् गुरुवाणी से बरसे अभिनन्दन से भीने फूल ।।

"तुम ही मेरे कल्पवृक्ष हो मेरे सपनों के आधार ।
तुम मेरे सर्वस्व चिरन्तन, पन्थ-खालसा का शृंगार ।।
ओ मेरे मन के दीपक, मेरे उपवन के अमर वसन्त ।
कभी तुम्हारे ऋण से उऋण न होऊँगा जीवनपर्यन्त ।।

तुम हो धन्य, तुम्हारा धन्य अनन्य लोमहर्षक बलिदान ।
जीवन की अन्तिम वेला में माँगो माँगो कुछ वरदान ।।"

बोला शिष्य "करें गुरुदेव, अकिंचन का प्रणाम स्वीकार ।
क्षमा करें अविनय भी मेरी, उठकर किया नहीं सत्कार ।।
हे अन्तर्यामी कलगीधर, क्षमाशीलता की सौगन्ध !
एकमात्र है यही प्रार्थना—जोड़ें फिर टूटा सम्बन्ध ।।

हे करुणा-वरुणालय अब तो कर दो क्षमा हमारी चूक ।
लिखा गया था जो हमसे कर दो वह 'त्यागपत्र' दो टूक ।।"

सुनी भक्त की निश्चल अनुनय तो झटपट आलेख निकाल।
उसे भक्तवत्सल गुरु ने तिल-तिलकर फाड़ दिया तत्काल।।
बोले फिर "तुम सभी मुक्त हो गए काटकर जगजंजाल।
इस कारण कहलाएगा यह अब से सदा 'मुक्तसर' ताल।।"

महासिंह ने अतुल हर्ष से मूँद लिए दृग अन्तिम बार।
गुरु ने सब सिक्खों का विधिवत् पूर्ण किया अन्तिम संस्कार।।

संज्ञाशून्य पड़ी थी 'भाग्यवती' भी वीरांगना समीप।
मस्तक पर था घाव लगा पर बुझा नहीं था जीवन-दीप।।
गुरुवर के स्वल्पोपचार से होकर शीघ्र सजीव सशक्त।
गुरु-प्रसाद पा गुरुचरणों के साथ चल पड़ी वह गुरुभक्त।।

देते हुए 'सिक्ख-संगत' को नामदान पथ में अविराम।
चरम-सक्ष्य की ओर बढ़ चले, पूर्ण कर्मयोगी निष्काम।।

कई मास यूँ बीते, गुरु ने किए विविध कौतुक अभिराम।
पहुँचे फिर 'तलवण्डी साबो' जहाँ यथेष्ट किया विश्राम।।
ग्राम-प्रमुख ने किया प्रेम से गुरुवर का स्वागत-सम्मान।
मन मसोस के सभी रह गए सुन स्वामी के कष्ट महान।।

अति सहानुभूति दिखलाई और मनाया गहरा शोक।
बोला चतुर ग्रामनायक फिर सादर श्री गुरुचरणविलोक।।

"बड़ा खेद है, मेरे होते हुई आपकी इतनी हानि।
हाय! वंशतरु नष्ट हो गया, कितनी लज्जा! कितनी ग्लानि।।

सुविख्यात हैं भीमकाय मेरे सब शूरवीर विक्रान्त।
किसी काम भी आ न सके वे, हा, कैसा दुर्दैव कृतान्त।।
काश, मुझे भी अवसर मिलता, पूरा कर लेता अरमान।
कुछ अनन्य सेवा का मैं भी दे पाता प्रत्यक्ष प्रमाण।।"

वचन ग्रामणी के सुनकर मुस्करा दिए प्रभु कलाप्रवीण।
तभी एक गुरुभक्त भेंट में ले आया बन्दूक नवीन।।
गुरु कुछ सोच प्रमुख से बोले लिये हाथ में वह बन्दूक।
"किसी व्यक्ति को खड़ा करो, लें जाँच शस्त्र का लक्ष्य अचूक।।"

गणपति का दल स्तब्ध रह गया सुनकर यह विचित्र अनुरोध।
लगे खिसकने छद्मवीर सब कर न सका नायक प्रतिरोध।।
जब पुकारने पर समग्र दल से न उठा कोई भी शूर।
सिक्खों में से एक बुला भेजा गुरु ने होकर मजबूर।।

सुनते ही सूचना दौड़कर आए सत्वर सिंह अनेक।
दर्शकगण थे चकित देखकर बलि की स्पर्धा का उद्रेक।।
स्वयं पंक्ति में प्रथम खड़े होने की तीव्र लगी थी होड़।
दो नाली थी जिधर घूमती उधर सभी सिर देते मोड़।।

गुरु ने बाँधा लक्ष्य, सिक्ख थे अविचलमन, निष्कंप-शरीर।
दम साधे सब देख रहे थे, 'कैसे हैं निर्भय ये वीर।।

इतने में दिल धड़क उठे, जब गोली चली हुआ विस्फोट ।
किन्तु महा आश्चर्य ! किसी को नहीं लगी थी कोई चोट ।।
ऊपर से ही निकल गई थी सन् सन् करती अग्निज्वाल ।
जय जयकार हुआ गुरुवर का, गूंज उठा 'सतसिरी अकाल' ।।

गुरु ने तो सेवक-निष्ठा की ली थी मात्र परीक्षा एक ।
गणपति अति लज्जित था अपना खोकर गर्व और अविवेक ।।

वीरभद्र ने कहा—"वयस्य, नहीं इसमें तेरा अपराध ।
आत्मसमर्पण की दीक्षा बिन पूर्ण न होती जीवन-साध ।।
तनबल नहीं, मनोबल और आत्मबल का है आज प्रभाव ।
जिसकी पूर्ति निमित्त हुआ 'खालसा पंथ' का प्रादुर्भाव ।।

जागृत ज्योति जपे निशिवासर, जो माने बस एक अकाल ।
प्रेम-प्रतीति बसे मन में, हो जिसका अन्तःकरण विशाल ।।
जो निर्भय निर्वैर रहे, कर सके धर्महित जो बलिदान ।
पूर्ण-ज्योति जागे घट में बस यही 'खालसा' की पहचान ।।

दृढ अनुशासन-बद्ध न होंगे जबतक नवभारत के लोग ।
नहीं कटेगा तन का बंधन नहीं मिटेगा मन का रोग ।।
अभी समय है, 'संतसिपाही बन कर तू ले जन्म सुधार ।
आत्मज्ञान की झाड़ू ले कातरता का कतवार बुहार ।।"

गुरु के उद्बोधन से मन में हुआ शक्ति का नव-उन्मेष ।
खंडामृत की धारा से अभिषिक्त हुआ संपूर्ण प्रदेश ।।

मिला परिस्थितिवश था गुरु को अब युद्धों से कुछ अवकाश।
अवसर था अनुकूल, वेग से फैला घर घर 'पंथ-प्रकाश ।।

केवल सैन्य-संघटन से गुरु नहीं हो रहे थे संतुष्ट।
करने लगे 'पंथ' के अब अध्यात्म-पक्ष को भी परिपुष्ट ।।
होने लगा नित्य हरिकीर्तन, बढ़ने लगा धर्म-सत्संग।
बहने लगी ज्ञान की गंगा, चढ़ने लगा भक्ति का रंग ।।

एक दिवस 'दीवान' लगा जब, उठी हृदय में प्रेम हिलोर।
महामहिम ऋषिराज धर्मगुरु हुए ध्यान में आत्मविभोर ।।
अति जिज्ञासु 'साध-संगत' की ज्ञान-पिपासा को पहचान।
पुण्य-श्लोक कलगीधर देने लगे सारगर्भित व्याख्यान ।।

''चक्र, चिह्न, सब वर्ण-जाति से—
रहित रूप रंग-रेखा-हीन।
वही एक ओंकार पुरुष है
सत्य स्वयंभु सदा स्वाधीन ।।

वह न मिले बक ध्यान लगाए, वह न रहे मठ-मढ़ी-मसान।
जिसने प्रेम किया प्रभु पाया, सुन लो यह गुरुवचन प्रमाण ।।

कीट, पतंग, तुरंग, भुजंगम
स्थावर-जंगम में क्या भेद।
वेद-पुरान, किताब कुरान
रटे, न मिटा पर मन का खेद ।।

परम तत्त्व का तार बजे जब छिड़े सरस 'अनहद' का राग।
सदा रहे कंचन सी काया, कभी न डसे काल का नाग ।।

अल्पाहार, स्वल्प सी निद्रा,
आत्म-विजय का कर उद्योग ।
नाम-विभूति रमाओ मन पर,
इस विधि सहज कमाओ योग ।।
गुरुवाणी पर निर्भर रहकर करो साधुसेवा सत्संग ।
हरि-हरिजन हैं एकरूप तुम कर लो शीघ्र मुक्ति का ढंग ।।

रहो समान सदन या वन हो,
बनो न इन्द्रियगण के दास ।
फल से उदासीन मन जिसमें
ऐसा करो सहज संन्यास ।।
पर कलिकाल कराल देखकर तुम 'अकाल' की ले लो ओट ।
धरे हाथ पर हाथ न बैठो खाकर धूर्त शत्रु की चोट ।।

स्वाभिमान से जीना सीखो,
बुझे नहीं स्वतंत्रता-ज्वाल ।
तुम कृपाण-युत वीर भुजा का
रखो भरोसा अब सब काल ।।"

तत्क्षण दिल्ली से आ पहुँची गुरु-गृहिणी पतिधर्म-प्रवीण ।
पुत्र-मृत्यु का समाचार सुन हुई शोक से संज्ञाहीन ।।

सुस्थिर होते फूट पड़ी वह "कहाँ गए हा ! चारों लाल ?
मेरी ममता के अंकुर, मेरे मानस के मुग्ध मराल ।।
वे थे मेरी प्राण-वर्णमाला के लघु अक्षर अभिराम ।
गुरुवाणी के सरस छंद से, मेरे स्वर्ण दिवस के याम ।।

किसे सुनाऊँगी अब लोरी किसको दूंगी माँ का प्यार ?
किसका विधुमुख देख करूँगी अब मैं सफल दूध की धार ।।
लिपट वक्ष से 'माता' कहकर मुझे बुलाएगा अब कौन ?
देकर कंधा मेरी अर्थी हाय, उठाएगा अब कौन ?"

सुनकर करुण विलाप सकल संगत में व्याप्त हुआ कुहराम ।
सिसके, सुबके, फफक पड़े फिर बरसे कमल-नयन अविराम ।।
विचलित-से हो उठे देखकर गुरु दशमेश धुरंधर धीर ।
चिरवियोगिनी प्रिय भार्या से बोले द्रुत होकर गंभीर ।।

"धीरज धर, नश्वर जीवन के लिए न कर तू इतना शोक ।
वीरपुत्र हैं मर्त्यलोक से पहुँच गए अमरों के लोक ।।
पुण्य धरोहर थी जिसकी, उसने लौटा ली अपने पास ।
हम भी मुक्त हुए गुरुऋण से, तू क्यों होती व्यर्थ उदास ?

देश-धर्म की लाज बचाने मैंने वार दिये सुत चार ।
चार गए तो क्या परवाह अभी जीवित हैं कई हज़ार ।।

है तेरी गोदी में देखो स्वयं खालसा पुत्र स्वरूप ।
तू है इसकी प्यारी माता, मैं हूँ इसका पिता अनूप ।।
अभी शैशवावस्था इसकी पर भारी कर्तव्य महान ।
पालन-पोषण करके दे तू इसे अमरता का वरदान ।।"

इस प्रकार पत्नी को देकर बहुविध आश्वासन उपदेश ।
शीघ्र जुट गए स्वयं जाति-निर्माण-कार्य में गुरु दशमेश ।।

दूर-दूर से आ पहुँचा था वहाँ सुकवि-लेखक-समुदाय।
रचनात्मक कार्यों का फिर से नया खुल गया था अध्याय।।
सुंदर वातावरण मिला था पुनः कई वर्षों के बाद।
तृषित अशांत हृदय ने पाया था साहित्य-सुधा का स्वाद।।

काव्य-सृजन का चाव, पंथ का प्रेम, भक्ति की प्रबल उमंग।
लगा 'दमदमा' में छाने फिर से 'आनंद-पुरी' का रंग।।

शीघ्र बन गई थी वह नगरी संत-महात्माओं का नीड़।
'गुरु की काशी' जिसमें रहती अविरत विद्वानों की भीड़।।

कवि सम्मेलन के आयोजन, रणवीरों के गौरव गान।
फिर से वही धर्मचर्चाएं, नाम-खुमारी का मधुपान।।
'आसा' की रागिनी गूंजती, 'सुखमणि' का होता था पाठ।
बहता प्रेमामृत का निर्झर, रहता हरिभक्तों का ठाठ।।

ग्रंथों का अवगाहन होता, निशिदिन विद्या का विस्तार।
जिनसे सुप्त सकल समाज में जाग उठे थे शुभ संस्कार।।
जन-जन में थी धर्म-भावना, घर घर में था शास्त्र-विनोद।
भरी अमूल्य ज्ञान-रत्नों से थी बंजर धरती की गोद।।

इसी मध्य दशमेश पिता ने बड़े यत्न से पुनः सँवार।
'आदि ग्रन्थ' का प्रामाणिक संस्करण किया नूतन तैयार।।
उसमें श्री गुरु तेगबहादुर की वाणी को भी सुविचार।
यथास्थान विन्यस्त कर दिया पृथक् रागक्रम के अनुसार।।

यूँ गुरु ने था सहज कर लिया पूर्ण 'पन्थ' का कार्य-विधान।
दिया शुष्क मालव-प्रदेश को सुख-समृद्धि का चिरवरदान।।

विगत शिशिर से शरद्-पूर्व तक गुरु ने किया अखण्ड प्रचार।
फिर दक्षिण की ओर चल पड़े, लक्ष्य सिद्धि का किए विचार॥
दयासिंह आ मिला मार्ग में दिया मुगलपति का सन्देश।
कलगीधर आश्वस्त हुए कुछ, पर प्राप्तव्य अभी था शेष॥

सहसा तभी नियति-निषंग से निकला क्रूर काल का तीर।
हो असफल अनुतप्त जगत से कूच कर गया 'आलमगीर'॥

सुनते ही सम्राट्-निधन हो गया स्वार्थियों में गठजोड़।
सिंहासन के लिए लुब्ध पुत्रों में चली भयंकर होड़॥
काबुल से उत्तराधिकारी चतुर 'मुअज़्ज़म' चला तुरन्त।
निज मित्रों से अब सहायता उसे चाहिये थी अत्यन्त॥

अपने मुंशी नन्दलाल को उसने भेजा गुरु के पास।
विगत स्नेह सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों पर थी उसको आस॥
निज प्रियभक्त निपुण कविकोविद की शुभसंमति के अनुसार।
'धर्मसिंह' के संग सैन्यदल भेज दिया गुरु ने सुविचार॥

निकट आगरा के निदाघ में हुआ भाइयों का संग्राम।
विजयी रहा मुअज़्ज़म अग्रज रखा 'बहादुर शाह' स्वनाम॥

यथासमय सहयोग के लिए नृप ने प्रकट किया आभार।
मुगलनीति में परिवर्तन का होने लगा स्वप्न साकार॥
नई परिस्थिति पर गुरु ने भी पुनर्विचार किया गम्भीर।
मना रहा था अब रूठे 'गोविन्द' को स्वयं यमुना-तीर॥

जब विधिवत् सम्राट्—ओर से सादर मिला निमन्त्रण-पत्र।
नीतिनिपुण गुरुदेव चल पड़े हुई प्रेम-वर्षा सर्वत्र॥

दशम सर्ग

जीवन है धन्य उसी नर का, जिसका चरित्रबल शुद्ध रहे।
वह सन्त-सिपाही है जिसके मुख में हरि मन में युद्ध रहे ॥

उद्बोधन

दक्षिण भारत की गोदी में
बहती थी गोदावरी नदी।
निज-रजत-मेखला वसुधा ने
मानो उतारकर हो रख दी ॥

वह चपल किन्नरी पश्चिम की, वह पूर्वी तट की शहनाई।
नासिक पहाड़ियों के मादक यौवन की रसमय अँगड़ाई ॥

नीलाभ गगन सी घाटी में
वह स्वर्गंगा की रेखा सी।
विट्ठल-चरणों में नृत्य-निरत
ज्यों नवयौवना देवदासी ॥

वह रूप-गर्विता मदमाती, निज वक्ष उभारे इठलाती।
हँसती गाती कुछ बलखाती श्यामल अंचल थी लहराती ॥

स्वच्छन्द मटकती फिरती थी
वन-वीरुध-पुंज पलाशों में।
मुग्धा-समान कसमसा रही
कूलों के दृढ़ भुजपाशों में ॥

कुंचित-केशी मधुपयोधरा वह हँसगामिनी मीनाक्षी।
थी पंचवटी के कुंजों में श्री रामचरित की चिरसाक्षी ॥

मृदु शीतल शाद्वल-शैया पर
वह श्यामा सुख से थी लेटी।
प्रिय सिंधु-मिलन का स्वप्न लिए
व्याकुल थी पर्वत की बेटी ।।

युग-पंक्तिबद्ध श्रीफलतरु थे ज्यों कुशल चँवर-बरदार खड़े।
दुलहन का हारसिंगार लिए तट पर थे 'हारसिंगार खड़े ।।

उन्मादी नभ के माथे पर
भादों की लट थी लहराई।
दिग्वधुओं ने थी कजरारी
आंखों से मदिरा छलकाई ।।

रिमझिम मलहार सुनाती थी, मिल मेघ मृदंग बजाते थे।
नर्तन करते थे मुग्ध मोर, दादुर भी तान मिलाते थे ।।

मृत-वत्स धेनु सी रंभाती
सरिता का जल था झुँझलाता।
कच्ची निद्रा से जाग पड़े
शिशुसा घन-मंडल घिघियाता।।

नटखट पावस का रूप देख चातक के मन में शोर मचा।
धरती के सूखे पृष्ठों पर अम्बर ने वर्षाकाव्य रचा ।।

सुरमई घटा के खेतों में
चपला के चम्पक फूल खिले।
रंगीन गगन के तोरण पर
बगलों के बन्दनवार हिले ।।

बीमार क्षितिज के कन्धों पर लटका था इन्द्रधनुष ऐसे।
नीरस कविता के मध्य मधुर कल्पना उभर आए जैसे ।।

हर्षित कदम्ब के नयनों में
नवयौवन के सपने महके।
वीरान केतकी कुंजों में
अरमानों के पंछी चहके ।।

लिपटा था नग्न धरा का तन रेशम के धानी आंचल में।
मटमैले चिथड़े बदल गए थे हरी दूब की मखमल में ।।

किंशुक कनेर की अलकों में
मंगलमय भर सिंदूर रहा।
निकटस्थ क्रुद्ध सेमल-दल था
आरक्त नयन से घूर रहा ।।

उल्लसित मल्लिका के तन पर शोभित थे चाँदी के गहने।
हँसता समीप था विधुर बकुल बन ठनकर वरमाला पहने ।।

गर्वीली रजनीगन्धा ने
मुक्ता से मांग सजाई थी।
नादान जपा-मंजरी किन्तु
गुँजा ही चुनकर लाई थी ।।

गुलमोहर के मदभरे नयन में थी गुलाब की तरुणाई।
सोंधी मिट्टी की गन्ध लिए कुछ बहक चली थी पुरवाई ।।

पल्लव के झाँझ हुए झंकृत
विहगों ने ध्रुपद गान गाया।
अमराई में हिण्डोलों पर
कजली का स्वर था लहराया।।

भीगी हरीतिमा झूल रही मारुत की मृदुल भुजाओं में।
वर्षान्त समय की चहल-पहल छाई थी दसों दिशाओं में ।।

गतवर्ष यही मंजुल ऋतु थी, आगरा पधारे थे गुरुवर ।
सम्राट् बहादुर शाह स्वयं मिलने को आया था सादर ।।
कृतकृत्य मुगलपति ने गुरु का हार्दिक अपूर्व आतिथ्य किया ।
रमणीय रत्नमाला अमूल्य 'खिलअत' का भी उपहार दिया ।।

सौहार्द-स्नेह से प्रतिबिम्बित नव-मैत्री का था दीप जला ।
उपयोगी वातावरण देख रुचिकर वार्ता का चक्र चला ।।
आशा थी, यत्न सफल होते दण्डित होंगे अत्याचारी ।
आनन्दपुरी को लौटेंगे फिर स्वयंसिद्ध कलगीधारी ।।

पर सहसा मुगलाधीश्वर को दक्षिणपथ जाना पड़ा तभी ।
प्रतिकूल राजनीतिक स्थिति से हो सकी न पूरी बात अभी ।।
समयानुरोध पर नीति-निपुण गुरुदेव हो लिए संग-संग ।
चल रही शान्ति की वार्ता में देखने शाह का रंग-ढंग ।।

सम्राट् निकट रहने पर भी गुरु युद्ध-क्षेत्र से अलग रहे ।
जनगणमन को प्रेरित करते निज लक्ष्य-सिद्धि में सजग रहे ।।

दिनरात महीने बीत चले, ऋतुओं ने वेष नया बदला ।
पर रही अवस्था यथापूर्व, हल नहीं समस्या का निकला ।।
गति सत्याग्रही दशमगुरु की नृपकारण आगे बढ़ न सकी ।
सुन्दर आशा की पंगुलता उद्देश्य-वृक्ष पर चढ़ न सकी ।।

गुरु ने देखा असमर्थ शाह था अपना वचन निभाने में ।
पापी नृशंस हत्यारों को न्यायोचित दण्ड दिलाने में ।।
वह चतुर चाहता था मुगलों के जर्जर-वन का तृण न हिले ।
दुर्जय मराठों के विरुद्ध भी गुरु का कुछ सहयोग मिले ।।

भाई न संत-अंतस्तल को यह कूटनीति की अटखेली।
होकर निराश मुगलाधिप से गुरु ने दुखसहित विदा लेली ।।

पहुँचे 'नान्देड़' सुयश सुनकर विश्रुत विचित्र वैरागी का।
मुनि, सिद्ध चमत्कारी, तांत्रिक, अति तरुण, तपस्वी, त्यागी का ।।

वह हृष्ट-पुष्ट वज्राँग वीर, विस्तीर्ण वक्ष, उन्नत ललाट।
था शस्त्रशास्त्र विद्या-प्रवीण वह पुरुष-सिंह मानवविराट ।।
वह युग के यौवन का प्रतीक सद्वृत्त संयमी दृढ़-विचार।
उद्दाम शौर्य का था निर्झर राजोरी का क्षत्रियकुमार ।।

जिस दिन उसने आखेट समय थी गर्भवती हरिणी मारी।
मरते देखे दो मृगशावक, मृदु मन पर चोट लगी भारी ।।
इस घटना ने अनुतप्त हृदय के तारों को झंझोड़ दिया।
अपराध मात्र की स्वीकृति ने जीवनधारा को मोड़ दिया ।।

अनुचिन्तन आत्मनिरीक्षण से मोहक माया की मैल धुली।
घायल हरिणी की आँख बन्द होते घातक की आँख खुली ।।
सामान्य रज्जु में घोर सर्प का मिथ्या भ्रम था नष्ट हुआ।
क्षणभंगुर जग में मुक्तिमार्ग था शरद-गगन सा स्पष्ट हुआ ।।

वह विषयभोग को रोग समझ बन गया शीघ्र योगाभ्यासी।
फिर कठिन तपस्यालीन हुआ वह पंचवटी का वनवासी ।।

आकर्षक गोदावरी कूल पर वैरागी का आश्रम था।
जिसमें दो युगपुरुषों द्वारा नवयुग का हुआ उपक्रम था।।

भद्रासन पर गुरु थे शोभित जातीय-मुक्ति के उद्योगी।
सम्मुख बैठा निजमोक्षनिरत था 'माधवदास' महायोगी।।
दोनों की अद्‌भुत भेंट हुई नव आशा का अरविन्द खिला।
गुरु ने पाया था योग्य शिष्य, अर्जुन को था गोविन्द मिला।।

आँखें मिलते ही हृदय मिले अनुपम अपूर्व आह्लाद हुआ।
फिर योगी और राजयोगी दोनों में यूँ सम्वाद हुआ।।

"हे यतिवर, मत आश्चर्य करो मैं ठीक ठिकाने आया हूँ।
अपने सपनों के कल्पवृक्ष की खोज लगाने आया हूँ।।
मैं मोहग्रस्त कातर मन को कर्तव्य सिखाने आया हूँ।
जो सदा हिरण्मय पात्रपिहित, वह सत्य दिखाने आया हूँ।।

प्राचीन सांस्कृतिक गौरव की मैं याद दिलाने आया हूँ।
वीरों को विस्मृत क्षात्र-धर्म का पाठ पढ़ाने आया हूँ।।
मैं नवयुग का गोविन्द क्रान्ति का चक्र चलाने आया हूँ।
फिर से अर्जुन को गीता का उपदेश सुनाने आया हूँ।।

संन्यासयोग से कर्मयोग को श्रेष्ठ बताने आया हूँ।
मैं वीतराग वनवासी से वैराग्य छुड़ाने आया हूँ।।"

"गुरुदेव, आपके वचनों का, गूढाशय समझ नहीं आया।
सुनकर विचित्र अनुरोध आज मेरा मन अतिशय भरमाया।।
मैं तो वर्षों से निरासक्त निर्जन वन में तप साध रहा।
निज मुक्ति-हेतु साधन करके क्या मैं कुछ कर अपराध रहा?"

"हे तात, योगविधि तप-साधन से मुझे कदापि विरोध नहीं।
पर बहिर्जगत के तिरस्कार से होता अन्तर्बोध नहीं॥
खाते पीते, क्रीड़ा करते, हँसते गाते जगजीवन में।
है सहज मुक्ति का भेद छिपा निष्काम कर्म-सम्पादन में॥

यह उचित नहीं परमार्थव्याज से स्वार्थसिद्धि का स्वाँग भरो।
सारा जग बंधनग्रस्त रहे, तुम आत्म मुक्ति का यत्न करो॥
जब तक मन में है स्वार्थभाव, संसार त्याग कर क्या होगा ?
मानवजीवन के कटु यथार्थ से दूर भागकर क्या होगा ?

हे विबुध महात्मन्! कण कण में तुम आत्मरूप को पहचानो।
जातीय-धर्म का पालन कर सब के सुख में निज-सुख मानो॥
सिद्धेश्वर !अपनी दिव्य शक्ति का पूर्णतया उपयोग करो।
स्वान्तः-सुखाय साधना छोड़ अब जनहिताय उद्योग करो॥

है देशधर्म पर आज पड़ी संकट की शनैश्चरी छाया।
इस कर्मठता के अवसर पर वैराग्य तुम्हें कैसे भाया ?
प्रत्यक्ष सत्य से आँख चुरा तुम अलख जगाए बैठे हो।
अपने घर में है आग लगी तुम भस्म रमाए बैठे हो॥

आसेतु-हिमालय आज प्रजा अन्याय अनादर सहती है।
जल नहीं पंचनद में सचमुच शोणित की धारा बहती है॥

है आज विवश क्रंदन करतीं कितनी मृगनयनी बालाएँ।
म्लेच्छों के घर हैं सिसक रही आर्यों की कुल मर्यादाएँ॥
बन्दी सीताएँ पूछ रही हैं आज हमारे राम कहाँ ?
दुःशासन-पीड़ित द्रौपदियां हैं ढूंढ रहीं—घनश्याम कहाँ ?

शरविद्ध मृगी की दीनदशा को देख द्रवित होने वाले !
मानवता के करुणामय स्वर किस लिए अनसुने कर डाले॥

जब माँ की लाज लूटने को दुष्टों का दल तैयार खड़ा ।
तो पुत्र के लिए यू विरक्त हो जाना है अपराध बड़ा ।।
है देश पुकार रहा शत शत रक्तारुण तरुण भुजाओं को ।
जो छिन्न भिन्नकर दें रण में अरिदल की घोर घटाओं को ।।

अब उठो वीर वैरागी ! तुम व्याकुल जग का उद्धार करो ।
प्रलयंकर कुलिश अमोघ लिए दानवदल का संहार करो ।।
कौपीन कमंडलु को त्यागो कोदण्ड कृपाण उठा लाओ ।
तुम दीनजनों की रक्षाहित अब 'संत-सिपाही' बन जाओ ।।"

"हे युगद्रष्टा ऋषिराज ! आप की क्रान्तिकारिणी बातों से ।
है द्वन्द्व मचा मेरे मन में उद्‌बोधन के आघातों से ।।

आश्चर्य हो रहा, आप मुझे हिंसा का पाठ पढ़ाते हैं ?
सब शास्त्र पुराण अहिंसा को ही परम-धर्म बतलाते हैं ।।
मेरे कानों में गूँज रही है अभी तथागत की वाणी ।
अद्‌भुत अशोक की धर्मनीति ऋषियों की शिक्षा कल्याणी ।।

होकर विभ्रान्त विवेकशून्य मैं किंकर्तव्य विमूढ खड़ा ।
भ्रम से मेरा उद्धार करें, मैं शिष्य आपकी शरण पड़ा ।।"

"तुम गीता के अनन्य प्रेमी, क्यों मोह-जाल में उलझे हो ?
है वर्तमान का प्रश्न अभी, क्यों भूतकाल में उलझे हो ?
प्रत्येक परिस्थिति में प्रायः युगधर्म बदलता रहता है ।
मौलिक सिद्धान्त वही रहते पर कर्म बदलता रहता है ।।

हम आज बुद्ध के नहीं, युद्ध के भीषणयुग में जीते हैं।
अवसर आने पर शंकर भी हँसकर हालाहल पीते हैं ॥

आदर्श अहिंसा का विचार सज्जन मानस का मोती है।
पर असुर शक्तियों के विरुद्ध हिंसा आवश्यक होती है ॥
निःशक्त अहिंसा ही हिंसा को स्वयं निमन्त्रण है देती।
सर्वथा नपुंसक नीति राष्ट्र का स्वाभिमान है हर लेती ॥

निष्क्रिय जीवन-दर्शन से ही क्रमशः भारत परतन्त्र हुआ।
अपनी निर्बलता के कारण है सफल शत्रु-षड्यन्त्र हुआ ॥

मैंने जीवनभर प्रेमसहित है मानवधर्म-प्रचार किया।
आक्रमणकारियों के विरुद्ध ही हिंसा का व्यवहार किया ॥
शान्तिप्रिय नर को किन्तु युद्ध के कटुफल चखने पड़ते हैं।
कोमल फूलों को अंग संग काँटे भी रखने पड़ते हैं ॥

यह धर्म-युद्ध है, जहाँ स्वार्थवश नरहत्या उद्देश नहीं।
जब 'संत-सिपाही' लड़ता है, मन में रहता कुछ द्वेष नहीं ॥
वह सदा आत्मरक्षा में ही निर्भय हो शस्त्र उठाता है।
निज धर्मजाति-हित प्राण लुटा, अपना कर्तव्य निभाता है ॥

रख देशकाल का उचित ध्यान तुम नीति-पूर्ण व्यवहार करो।
फूलों की रक्षाहेतु सदा काँटों का पथ स्वीकार करो ॥"

"है सत्य वचन प्रभु का लेकिन यह स्वप्न पूर्ण होगा कैसे।
बस एक अकिंचन रजकण से गिरि-गर्व चूर्ण होगा कैसे ॥
साधनविहीन रथ महाक्रान्ति का कौन कहाँ तक खींचेगा ?
असहाय अकेला क्षुद्रबिन्दु कैसे मरुथल को सींचेगा ?"

"हे मुग्ध विमोहित महावीर ! तुम क्यों अपना बल भूल गए।
तुम रुद्रनयन होकर कैसे अपना प्रलयानल भूल गए ?
विघ्नों की चोटी पर विजयी साहस का ध्वज लहराता है।
जिस ओर बढ़ाता वीर चरण पथ वहीं स्वयं बन जाता है ।।

इतिहास पलट कर देखो तो राणा प्रताप क्या कहता है।
गजयूथ भरे बीहड़ वन में केसरी अकेला रहता है ।।
नन्हा सा बीज समय पाकर वटवृक्ष विशाल उगा देता।
रवि निपट अकेला अन्धकार का पूर्ण समुद्र सुखा देता ।।

था राम अकेला वनवासी जब हरी गई थी प्रिय सीता।
वानरसेना लेकर उसने लंकापति रावण को जीता ।।
वह कृष्ण एक ही था जिसकी उपयुक्त नीति को अपनाकर।
सारे युग ने करवट ली थी जीवन की नई दिशा पाकर ।।

फिर एक सन्त गुरु नानक ने भी जग को 'पंथ' दिखाया था।
'आशा' का 'शब्द' सुना करके निद्रा से तुरत जगाया था ।।

मैंने भी अपने कन्धों पर एकाकी भार उठाया है।
चारों पुत्रों की आहुति दे पग पीछे नहीं हटाया है ।।
अन्याय-विरुद्ध कभी मैंने संतत संघर्ष नहीं छोड़ा।
जीवनसर्वस्व लुटा कर भी अपना आदर्श नहीं छोड़ा ।।

लो, आज अकेली अबला भी कायर नर को धिक्कार रही।
है ताराबाई महाराष्ट्र में मुगलों को ललकार रही ।।
भारत ने आज महाभारत का नाटक फिर से खेला है।
गांडीव उठा भी लो अर्जुन ! फिर धर्मयुद्ध की वेला है ।।"

"गुरुदेव, आप हैं धन्य धन्य मेरे आराध्य देव, स्वामी ।
पृथ्वीपुरुहूत, पुरुषपुंगव, परहितपर, पंथपुरोगामी ।।
हे राष्ट्रपुरुष हे युगस्रष्टा हे मुक्ति—ऋचाओं के गायक !
हे मानवता के कर्णधार हे विश्व सभ्यता के नायक !!

अविलम्ब आपकी करुणा से मैंने अपना पथ जान लिया ।
पथभ्रष्ट नाव ने जल-विलीन तट को सहसा पहचान लिया ।।
हो गया नष्ट है मोह प्रभो ! मिट गया कुहासा है भ्रम का ।
है ज्ञान-प्रभाकर उदय हुआ जिससे आवरण हटा तम का ।।

है श्रीचरणों की शपथ मुझे, अन्याय मिटाकर छोड़ूँगा ।
जनमन से कुत्सित शासन का आतंक हटाकर छोड़ूँगा ।।
गिन-गिन कर मैं बदला लूँगा गुरुपुत्रों के हत्यारों का ।
मैं गला घोटकर रख दूँगा मुगलों के अत्याचारों का ।।

विश्वास रखें गुरुभूमि शीघ्र दुष्टों से मुक्त करा लूँगा ।
सद्धर्म देश की वेदी पर मैं अपने प्राण चढ़ा दूँगा ।।

जीवन रहते मैं नहीं 'पंथ' पर आने दूँगा कष्ट कभी ।
जिसके हों आप सदृश रक्षक, वह देश न होगा नष्ट कभी ।।
निःसंशय दें आदेश मुझे हे पूज्यचरण कलगीधारी ।
सर्वदा आपका चिरसेवक 'बन्दा' हूँ मैं आज्ञाकारी ।।"

'बन्दा' का दृढ़ संकल्प देख गुरुवर का मन आश्वस्त हुआ ।
उनकी जनमुक्ति-योजना का था भावी मार्ग प्रशस्त हुआ ।।

अपनी कुटिया में लौट सुधी गुरुदेव विचार-निमग्न हुए ।
सत्वर नवीन आन्दोलन की तैयारी में संलग्न हुए ।।
बह चली अमृत की सुर-सरिता, फिर धर्म-प्रचार लगा होने ।
यूँ शिथिल 'पंथ' के जीवन में बल का संचार लगा होने ।।

क्रमशः फिर जनसम्पर्क बढ़ा, 'संगत-पंगत' की रीत चली ।
शरदागम की सूचना दिए धूमिल वर्षाॠतु बीत चली ।।

निथरे निरभ्र नभ पर तारे
उज्ज्वल मुक्ता सम दमक उठे ।
मानो विभावरी के तन पर
श्रमजन्य स्वेदकण चमक उठे ।।

रोती घनघोर घटाओं को जब विवश विदा होते देखा ।
निर्लज्ज काँस खिलखिला पड़े, हँस दी कलंकिनी विधुलेखा ।।

सद्यःस्नाता पृथ्वी का भी
होने नूतन शृंगार लगा ।
निर्धन कपास के हाथ अतुल
पुखराज रत्न-भण्डार लगा ।।

नवयुवती अपराजिता नीलनयनों से रस ढुलकाती थी ।
नभ से आकर पद्माकर में शशिकिरण नहाने आती थी ।।

ॠतुरानी शरत्कुमारी का
निखरा था सुन्दर रूपरंग ।
पद्मिनी हर्ष से नाच रही,
बज रही ताल में जलतरंग ।।

नवसृजन-वेदना से पुलकित सम्भ्रान्त प्रकृति शरमाई थी ।
निर्मल-मन गोदावरी मान तजकर सहसा सकुचाई थी ।।

अविचलपुर में अविचल चलता था प्रवचन कलगीधारी का।
थे हिन्दू-मुस्लिम सिक्ख सभी लेते रस नाम-खुमारी का ।।

है एक रात की बात विमल दूधिया चांदनी थी निखरी।
अवदात कीर्ति गुरु की मानो भू से अम्बर तक थी बिखरी।।
गुरु नित्य-कर्म से हो निवृत्त विश्राम-कक्ष में सोए थे।
मानव कल्याण कामना के स्वर्णिम स्वप्नों में खोए थे ।।

'रहिरास' पाठ करके 'संगत' भी चली गई थी अपने घर।
था शेष रह गया एक व्यक्ति दशमेश-निवेशन के भीतर ।।

वह था पठान विष की खदान शैतान गुप्तचर गुरुद्वेषी।
वेतनभोगी वजीरखाँ का, खल धूर्तधुरीण छद्मवेषी ।।
पामर नवाब से प्रेरित वह सरहिन्द राज्य से था आया।
कर रहा प्रतीक्षा जिसकी वह अवसर था अब उसने पाया ।।

सब ओर घुमाकर काकदृष्टि देखा सेवक थे ऊँघ रहे।
बाहर सतर्क दो सहचर थे प्रत्येक गन्ध को सूँघ रहे ।।

जमशेद खान निश्चिन्त हुआ कर लिए निशित नंगी कटार।
आया समीप दशमेश जहाँ निद्रानिमग्न थे निर्विकार ।।
क्षुत्क्षुब्ध भेड़िये के समान उसने संघातक वार किया।
पल-भर में कुटिल-कटारी से गुरुदेव-कुक्षि को फाड़ दिया ।।

गम्भीर चोट खा उछल पड़े झट पलक झपकते ही गुरुवर ।
दूसरे वार के पहले ही फुरती से संभल गए सत्वर ।।
निज वामहस्त से घाव और दक्षिण कर में असि को पकड़े ।
अविलम्ब आक्रमणकारी के कर दिए वहीं टुकड़े-टुकड़े ।।

गुरु की पुकार सुन परिचारक तत्काल हड़बड़ा कर जागे ।
बाहर भयभीत छिपे दोनों सहचर भी घबराकर भागे ।।
पर दारुण वृत्त ज्ञात होते सिक्खों ने उनको पकड़ लिया ।
क्रोधातिरेक से मार-मार दोनों का काम तमाम किया ।।

सुनते ही क्षुब्ध-हृदय सहसा उठ दौड़ा बन्दा वैरागी ।
चिन्तातुर पुरजन उमड़ पड़े गुरुचरणकमल के अनुरागी ।।

अनवरत रक्त की धारा से भीगे थे गुरु दशमेश पिता ।
सब शोकसिन्धु में डूबे थे, बह रही अश्रुओं की सरिता ।।
पर धीर धुरन्धर असिधर के मन में न खेद की थी छाया ।
जीवनसंकट में यथापूर्व गुरु-मुखपंकज था मुस्काया ।।

द्रुत चतुर चिकित्सक आ पहुँचे, आरंभ तुरत उपचार हुआ ।
सी दिया घाव भीषण विपदा का यथासमय परिहार हुआ ।
सम्राट् बहादुर शाह सदा मन में गाता था गुरु के गुण ।
उसने भी गुरु की सेवा में भेजे शाही जर्राह निपुण ।।

दावानल सा यह समाचार फैला जब दसों दिशाओं में ।
था शांत रक्त फिर खौल उठा जन-जन की शिथिल शिराओं में ।।

इस उत्तेजक दुर्घटना से फिर भड़क क्रांति की आग उठी।
गुरु-हत्या का सुनकर प्रयत्न प्रतिकार-भावना जाग उठी।।
विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हुई, सिंहों का धीरज छूट गया।
था दुष्टों के अक्षम्य घोर अवराधों का घट फूट गया।।

गुरु स्वयं रुग्ण होकर भी थे सक्रिय होने को उत्साही।
पर स्वयं पंचनद जाने की वैरागी ने अनुमति चाही।।

सब आततताइयों को दण्डित करने की उसने ठानी थी।
अपने हाथों अब शत्रु-रक्त से लिखनी उसे कहानी थी।।
भावी जीवन की वीणा पर अब गीत नया ही गाना था।
गुरु के प्रिय अन्तेवासी को गुरुऋण का ब्याज चुकाना था।।

कुछ क्षण कलगीधर ने अपनी अस्वस्थ अवस्था को देखा।
फिर दूरदर्शिनी आँखों में उभरी प्रसन्नता की रेखा।।
'संगत' बैठी, प्रस्ताव रखा, सहमत हो गए सभी प्राणी।
गुरु कविर्मनीषी ने कर दी थी नवयुग की भविष्यवाणी।।

तत्काल बनाया बन्दा को गुरुकुल का मुख्य अधिष्ठाता।
हो गए पाँच प्रिय सिक्ख नियत उसके शुभ परामर्शदाता।।
गुरु ने उसको धनुसंग दिए अपने निषंग से पाँच बाण।
स्थायी अधिकृत आदेशपत्र, असि यशवंती, विजयी निशान।।

यूँ भावी युग-निर्माता को सम्पूर्णतया तैयार किया।
फिर उसे सहज सम्बोधित कर अत्यावश्यक निर्देश दिया।।

"लो, अब दायित्व संभालो तुम, हे धर्मयुद्ध के सेनानी।
है साथ तुम्हारे तेजस्वी विक्रान्त 'खालसा' बलिदानी ।।

चिंता न कभी करना मन में तुम निपट अकेला होने से ।
परिचित हो पूर्ण पंचनद की धरती के कोने-कोने से ।।
विश्वास रखो मेरे अनुचर अपना सर्वस्व लुटाएंगे ।
बस एक तुम्हारे इंगित पर रजकण सूरज बन जाएँगे ।।

आदेश तुम्हारा मानेंगी पर्वत-सरिताएँ भी रुककर ।
स्वयमेव तुम्हारे चरणकमल चूमेगी जयलक्ष्मी झुककर ।।
सिंहों के सम्मुख रिपुसेना पलभर न ठहरने पाएगी ।
'सत सिरि अकाल' स्वर गूंजेगा, केसरी ध्वजा फहराएगी ।।

पर सावधान !अपने गुरु का अनुशासन भूल नहीं जाना ।
धनबल-प्रभुत्व-मदमोह भरी माया में फूल नहीं जाना ।।

कोई न चलाना 'पंथ' नया, मत कभी धर्मगुरु कहलाना ।
'गुरुमत' का निर्णय लेकर ही प्रत्येक प्रश्न को सुलझाना ।।
दृढ़ ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर निशिवासर संयम में रहना ।
गुरुकुल की मर्यादाओं का किंचित् अपमान नहीं सहना ।।

निष्काम तुम्हारी जन-सेवा जग के समक्ष आदर्श रहे ।
अन्याय-अधर्म-विरुद्ध सदा चलता अवश्य संघर्ष रहे ।।
हूँ सौंप रहा अब तुम्हें महान् 'अकाल पुरुष' की बाहों में ।
मैं स्वयं रहूँगा अंग-संग सर्वथा धर्म की राहों में ।।"

यूँ आशिष देकर गुरुवर ने प्रिय वैरागी को विदा किया ।
पच्चीस सैनिकों का लघुदल भी साथ सहायक भेज दिया ।।

धीरे-धीरे गुरु स्वास्थ्य-लाभ अब लगे निरन्तर थे करने।
राका-घट ज्यों ज्यों रिक्त हुआ वैसे ही घाव लगा भरने॥

कार्तिकी अमावस्या आई, जगमगा उठी दीपकमाला।
नववधू समान अलंकृत हो झिलमिला उठी रजनीबाला॥
कंचनवर्णी अंकुर फूटे घन अन्धकार की डाली में।
अनगिन केसरकण बिखरे थे मानो नीलम की थाली में॥

गुरुमुख सुषमा से चमक उठा, कुटिया में घी के दीप जले।
कालिंदी के श्यामल जल में मानो थे पाँडुर कमल खिले॥
स्वामी को किंचित् स्वस्थ देख उत्सव छाया अविचलपुर में।
मुस्करा रही थी किंतु नियति की नटी रहस्यभरे सुर में॥

दो दिन भी अभी न बीते थे गुरु ने श्रम का अभ्यास किया।
अति भारी एक शरासन पर कौतुकवश चिल्ला चढ़ा लिया॥
धनुराकर्षण से बंद घाव खुल गया, सभी टाँके टूटे।
हो गया और भी व्रण गहरा, शोणित के फव्वारे छूटे॥

सब सेवक दौड़े, शोर मचा, अनुभवी चिकित्सक घबराए।
हर संभव किया उपाय किन्तु भावी को रोक नहीं पाए॥

दिनरात सतत उपचार हुआ, घर-घर में हुईं प्रार्थनाएँ।
पर चन्द्रकला के साथ बढ़ीं चिन्तासागर की रेखाएँ।
रजनीश पंचमी का थककर जब पश्चिमनभ की ओर चला।
गुरु के 'विचित्र नाटक' का भी तब चरम दृश्य सहसा बदला॥

थी बयालीसवीं शरद अभी रस-रूप-गंध से आप्लावित।
तारुण्यकाल था प्रौढ़ हुआ युग का भविष्य था आशान्वित ।।
पर स्वयं 'वाहगुरु' से गुरु को था मिलन-निमन्त्रण आ पहुँचा।
'सचखंड' लौट जाने का था क्रमशः अंतिम क्षण आ पहुँचा ।।

आकाश सोच में डूबा था उर में थी चिनगारियाँ भरीं।
निशि का था कबरीबन्ध खुला तारों की सब लड़ियाँ बिखरीं ।।

गुमसुम उदास थी दिशा-दिशा मुख पर थी मलिन व्यथा छाई।
निःश्वास छोड़ता था समीर जैसे शोकाकुल सौदाई ।।
वन विकल, विटप निस्तब्ध खड़े, पल्लव भी थे मुँह लटकाए।
लोचन थे सजल लताओं के, पुष्करिणी के दल कुम्हलाए ।।

कुछ कोलाहल था लहरों में, भीगा था सरिता का कछार।
चुपचाप सर्प-सा सरक रहा था नभ में गहरा अन्धकार ।।

श्रद्धालु भक्त बेसुध बेबस बैठे थे घोर निराशा में।
चिर अमृतमयी गुरुवाणी के दुर्लभ रस की अभिलाषा में ।।
नयनों में था अवसाद भरा सपनों का टूटा था दर्पण।
दुश्चिन्ताओं से बोझल मन करता था अनिश करुण क्रन्दन ।।

"हे दीनानाथ ! अनाथों से सम्बन्ध तोड़कर मत जाएँ।
भीषण मंझधारों के मुख में यूँ नाव छोड़कर मत जाएँ ।।
यह चिरवियोग का हालाहल कटुतम है पी न सकेंगे हम।
श्रीमुख का दर्शन किए बिना पलभर भी जी न सकेंगे हम ।।

जलहीन मीन, जड़हीन वृक्ष, गुरुहीन शिष्य का क्या होगा ?
संकट-क्षण में नेतृत्व-हीन युग के भविष्य का क्या होगा ?

अब हम हतभाग्य कष्ट अपने किसके समीप ले जाएँगे ?
जीवन की कठिन समस्याएँ प्रतिदिन कैसे सुलझाएँगे ?
किस तरह अपाहज आशाएँ अब लक्ष्य-शिखर तक पहुँचेगी ?
स्वातीघन की बूँदें कैसे सारंग-अधर तक पहुँचेगी ?

शोकार्त 'खालसा' असुरशक्ति को अब क्योंकर ललकारेगा ?
गुरुदेव ! आपके बिना कौन पृथ्वी का भार उतारेगा ?
अब कौन प्रकाश दिखाएगा कुत्सित कुरूप अँधियारों में ?
संकल्प सिंह के भर देगा स्यारों के भीरु विचारों में ?

विधवा होकर भारत माता अब कैसे माँग सँवारेगी ?
द्रौपदी भला गोविन्द–विना दुख में अब किसे पुकारेगी ?
पतितों को कौन उठाएगा, दलितों को गले लगाएगा ?
सम्पूर्ण 'पन्थ' की परम्परा अब आगे कौन चलाएगा ?''

प्रिय सिक्खों के दुर्बल मन की आशंका को अनुभव कर के।
गुरुदेव सान्त्वना के स्वर में बोले उपदेशामृत भर के।।

''तुम क्षुद्र हृदय की दुर्बलता-कातरता का परित्याग करो।
तुम व्यक्ति नहीं उसके सुंदर सिद्धांतों से अनुराग करो।।
मेरे भौतिक नश्वर शरीर से उचित नहीं है मोह तुम्हें।
क़ेवल मिथ्या भ्रम के कारण लगता है मिलन-विछोह तुम्हें।।

जग में रवि के उदयास्त सदृश ही जन्म-मृत्यु का चक्र चले।
सरि-सागर घट-पनघट बदलें, पर जल का रूप नहीं बदले।।

उत्पत्ति-नाश का सतत द्वन्द्व हिमजल की कल्पित माया है।
पर सूक्ष्म तत्त्व के ज्ञान बिना यह स्थूल जगत भरमाया है ।।
मैं आत्मरूप सच्चिदानंद, मैं अजर अमर अज अविनाशी।
अव्यक्त-तेज अनुभवप्रकाश हूँ पूर्णपुरुष-पद-अभिलाषी ।।

यह परममुक्ति का अवसर है, मन में किंचित् मत शोक करो।
यह महाकाल की इच्छा है सिर पर उसका आदेश धरो ।।
वह सर्वशक्तिमय सर्वेश्वर उससे न भागकर बच पाएँ।
जिसके बिन और उपाय न हो, क्यों उसकी शरण नहीं जाएं ।।

जीवन है धन्य उसी नर का, जिसका चरित्रबल शुद्ध रहे।
वह 'संतसिपाही' है जिसके मुख में हरि मन में युद्ध रहे ।।

मैं भी 'अकाल' की आज्ञा से इस भूमण्डल पर आया था।
'खालसा पंथ' का कर प्रकाश सतगुरु-संदेश सुनाया था ।।
तुम धीरज रखो, अमृत पीने वालों को कष्ट नहीं होगा।
घन अंधकार छा जाने से दिनकर तो नष्ट नहीं होगा ।।

यद्यपि अधर्म की कुटिल शक्ति पग पग पर शूल चुभोती है।
पर अग्नि-परीक्षा की समाप्ति पर विजय सत्य की होती है ।।
जब तक नभ में रवि-शशि तारे, है गंगा-यमुना में पानी।
गूँजेगी सभी दिशाओं में निर्बाध 'वाहगुरु' की वाणी ।।

आज्ञा है, सिक्खों को अब से सब 'आदिग्रंथ' को गुरु मानें।
गुरु-वाणी में ले खोज सत्य, हरिरूप 'शब्द' में पहचानें ।।
जब कहीं 'पाँच प्यारे' मिलकर, 'गुरुमत' का प्रश्न उठाएँगे।
अपने अंतर में मुझे उसी क्षण विद्यमान ही पाएंगे ।।

मैं चर्म-चक्षु से ओझल भी सूक्ष्मांतर में रह जाऊँगा।
आस्था के कान खुले रखना मैं सब रहस्य कह जाऊंगा ।।

मेरी स्मृति में मठ या मन्दिर न समाधिविशेष कहीं रचना।
परमेश्वर का अवतार मान पूजाडम्बर से भी बचना ।।
तुम 'पंथ खालसा' के शाश्वत आदर्शों का पालन करना।
जीवन में 'संत-सिपाही' का निर्भय स्वरूप धारण करना ।।"

यूँ कह कर गुरु दशमेश पिता ने मूँद लिए लोचन अपने।
पलकों पर सहसा नाच उठे 'विस्माद'-अवस्था के सपने ।।
झट दशम-द्वार खुल गया और 'अनहद' की मधु झंकार हुई।
गुरु की आत्मा चिरवियोगिनी हरि से मिल एकाकार हुई।।

स्थिर चित्तवृत्ति के होते ही, 'लिव' लगी 'सुरति' के तार मिले।
तब नाद-बिन्दु के संगम पर निःशब्द हृदय के होंठ हिले।।

"हे महादेव, देवाधिदेव,
हे कामरूप, कोमल कराल !
हे जनवत्सल, वामन-विराट्,
हे सर्वलोह, सतसिरि अकाल !

असिपाणि प्रभो, तेरे पथ से
मैंने मुँह कभी नहीं मोड़ा।
दुहरा भर दी तेरी वाणी,
अपना कुछ स्वयं नहीं जोड़ा ।।

स्मृति-शास्त्र सभी मत भिन्न कहें,
मैं ने तो एक नहीं माना ।।
जब से हैं पाँव गहे तेरे,
कोई भी अन्य नहीं जाना।

तू ही अनादि तू ही अनंत,
तू नेति-नेति, अविगत अनूप ।
तू सर्वकाल, तू सर्वदेश,
तू पूर्ण एक ओंकार रूप ।।

तू ही जल में तू ही थल में,
तू ही गिरि में तू ही वन में ।
तू ही पलपल में, कण-कण में,
तू तन में, मन में, त्रिभुवन में ।।

तू ही प्रयुक्त, तू ही विमुक्त
तू ही निगूढ, तू ही प्रतीत ।
तू शब्द-ब्रह्म, तू नाद—गीत,
तू निर्गुण सगुण त्रिगुणातीत ।।

तू मृगरव में खग-कलरव में,
तू तरु के पल्लव पल्लव में ।
तू ही भव—संभव वैभव में,
तू ही इसमें, उसमें, सब में ।।

सरसिज तू ही, मलयज तू ही,
चंपा तू ही, जूही तू ही ।
सौरभ तू ही, भू नभ तू ही,
तूही तूही तूही तूही ।।"

यूं सहज-समाधि लिए तन्मय गुरु परमज्योति में लीन हुए ।
भवभयहारी कलगीधारी पल में भवबंधन-हीन हुए ।।

